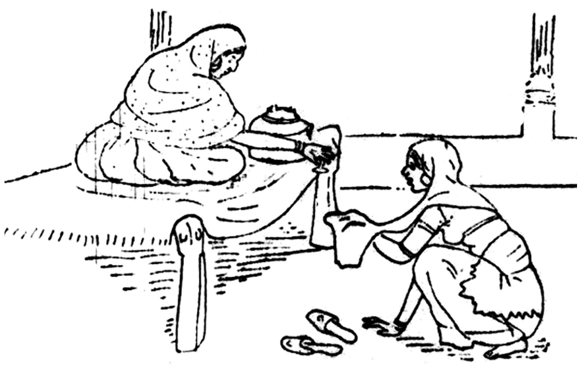
‘कुलटा’ और पीड़िता : औपनिवेशिक उत्तर भारत में सवर्ण लेखन और दलित स्त्री चित्रण

चारु गुप्ता





बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत में जाति के सवाल केंद्रीय महत्त्व इख़्तियार कर रहे थे, जिससे हिंदी प्रिंट हलक़े भी कई प्रकार से प्रभावित हुए। यह लेख सवर्ण सुधारवादी-राष्ट्रवादी हिंदी सार्वजनिक क्षेत्र के ज़रिये जाति और लिंग के अंतर्संबंधों के इर्द-गिर्द रचित वर्चस्वशाली अभिलेखों का पुनर्पाठ करने का प्रयास करता है। हिंदू समुदाय और हिंदी प्रिंट संस्कृति के अंदर सवर्ण वर्चस्व बदस्तूर जारी था, जहाँ जाति और लिंग के अंतर्संबंधों में सामाजिक विभेद निर्धारण एक चिरस्थायी तत्व था। औपनिवेशिक काल में सवर्णों द्वारा लिखित उपदेशात्मक, सुधारवादी और राष्ट्रवादी साहित्य में दलित स्त्रियों के मुख्यतः दो तरह के चित्रण सामने आए। एक हिस्से में दलित स्त्रियों और विशेषकर चमार दाइयों को कुलटा, कुटनी, प्रदूषित, अशुद्ध और कामुक के रूप में चित्रित करने के पुराने-नए रूप और मुहावरे विकसित हुए।[1] विशेषकर, सवर्ण विचारधारा और राजनीति से जुड़े उपदेशात्मक साहित्य में

[1] लेख में ‘अछूत’, ‘चमार’, ‘भंगी’ आदि शब्दों का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि उस दौर का सवर्ण हिंदी लेखन इन शब्दों का प्रयोग करता था, जिसका दलित विचारकों ने विरोध किया है. उपरोक्त शब्द लेखिका के नहीं हैं.

सवर्ण और दलित स्त्रियों के चित्रण ने कई प्रकार के आचारीय मानक और रूढ़िवादी मानदंड स्थापित किए, जिससे जातिवाद मज़बूत हुआ। दूसरे प्रकार के चित्रण में दलित स्त्री की प्रदूषित, दुष्ट और विकृत छवि की जगह उनकी एक दुखियारी, पीड़िता, अधीनस्थ और अत्याचार बर्दाश्त करने वाली मौन छवि उकेरी गई, जो सहानुभूति की पात्र थी, और जिसका उद्धार सवर्णों द्वारा दिखाया गया।[2] सवर्ण विमर्श, बिंब और भाषावली में वर्णित इस छवि में चुपचाप दुःख झेलने वाली दलित स्त्री छवि को आदर्श बनाया गया। यों तो इस प्रकार के लेखन में दलितों के प्रति उदारवादी सहानुभूति का भाव था, लेकिन इसमें निहित भाषावली और बिंब, नए तरीक़ों से अधिकतर सवर्ण जाति वर्चस्व को ही स्थापित करते थे। मैं यहाँ बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दलित स्त्री की इन दोनों छवियों की निर्माण-प्रक्रिया, शैली, बिंब आदि का विश्लेषण करूँगी। ये दोनों ही अभिव्यक्तियाँ, अलग-अलग तरीक़ों से दलित स्त्रियों के यथास्थित सवर्ण पूर्वाग्रहों को मज़बूत करती थीं।

दलित स्त्री का (कु) चित्रण : हिंदी उपदेशात्मक साहित्य में जाति-लिंग के साँचे

लेख का यह हिस्सा उस दौर की एक विशेष रचनावली – हिंदी की उपदेशात्मक और घरेलू नियमावलियों पर केंद्रित है, जो विशेषकर मध्यवर्गीय, उच्च जाति की हिंदू स्त्रियों को संबोधित था। विभिन्न इतिहासकारों के अलग-अलग क्षेत्रों पर किए हुए शोधों से पता चलता है कि ऐसी उपदेशात्मक पुस्तकों का अभिप्राय स्त्री और पुरुष के बीच असमान संबंधों को मज़बूत करना था। इनमें अधिकतर स्त्रियाँ हृदय और भावना की प्रतीक थीं, जबकि पुरुष दिमाग़ और बुद्धिमत्ता के वाहक थे। पुरुष स्थल को धर्मशास्त्र, क़ानून और चिकित्सा के सामाजिक रूप से स्वीकृत ज्ञान की धरोहर समझा जाता था, जबकि स्त्री जगत को शिशु-पालन, खाना पकाने और सफ़ाई जैसे कामों में सीमित देखा जाता था[3] (जूडिथ वॉल्श, 2004)। लेकिन साथ ही, अगर हम दलित स्त्रीवादी नज़रिए से इस कालखंड का अवलोकन करें तो स्त्री बनाम पुरुष विश्लेषण पर सवालिया निशान लगते हैं। इस दृष्टिकोण से इन संहिताओं में हमें लिंग, जाति, वर्ग और धार्मिक सत्ता का सक्रिय गठबंधन नज़र आता है। इन उपदेशात्मक नियमावलियों में, जो कथावाचन का काम करती थीं, अक्सर निश्चित जाति पूर्वाग्रह निहित थे। जैसा कि देखा जा सकता है, इन व्यवहार संहिताओं में पुरुषों द्वारा स्त्रियों और साथ ही साथ सवर्णों द्वारा अस्पृश्यों पर नियंत्रण का भी भाव था।

यह कहा गया है कि औपनिवेशिक काल में एक सवर्ण हिंदू स्त्री के आदर्श स्त्रीत्व की बुनावट का वास्तविक संघर्ष घरों के अंदर खेला गया। घरेलू क्षेत्र को राष्ट्रीय, उच्च जातीय

[2] उदाहरण के लिए: *चाँद* पत्रिका का 'अछूत अंक', मई 1927. इसमें विशेष तौर पर देखें: संपादकीय, 'पाप की ग्रंथियाँ' : 2-6; 'अछूत नारी की दुर्दशा' : 175-8; 'अछूत नारी का समुद्धार' : 178-80.

[3] मेरी हैनकॉक (2001) : 871-903.

हिंदू संस्कृति के अंतःकरण के रूप में चित्रित किया गया और स्त्री को इस घर और अंतःकरण के आध्यात्मिक सार और वाहक के रूप में देखा गया।[4] साथ-ही-साथ यह भी दावा किया गया कि स्त्रियों और विवाह पर केंद्रित औपनिवेशिक क़ानून और सामाजिक सुधार पितृसत्ता के नए ढाँचे और स्त्रियों के लिए कठोर घरेलू और सामाजिक अनुशासन निर्मित कर रहे थे।[5] यद्यपि ये नज़रिए इस बात की अनदेखी करते हैं कि स्त्रियाँ किस प्रकार सृजनात्मक तरीक़ों से सुधारों और राष्ट्रवाद को अपने हितों के लिए तोड़-मरोड़ रही थीं, फिर भी यह क़तई इनकार नहीं किया जा सकता है कि उपदेशात्मक नियमावलियाँ पितृसत्ता के देशी ढाँचों और उच्च जातीय व्यवहारों को नवजीवन दे रही थीं।

औपनिवेशिक उत्तर भारत में, ख़ासकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के बाद प्रिंट के विकास और भाषाई प्रेस के उभार के कारण, और समाज सुधार के परिप्रेक्ष्य में, काफ़ी संख्या में हिंदी में उपदेशात्मक किताबें और लेख प्रकाशित हुए। हिंदी-हिंदू मध्यम वर्ग के एक मुखर और प्रभावशाली तबक़े ने, जो अधिकतर सवर्ण जातियों से था, इस साहित्य की मुख्य तौर पर रचना की। यह साहित्य एक प्रकार का ऐसा सांस्कृतिक संसाधन बन गया जिससे एक ख़ास पहचान और सम्मानीय घरेलुता को शक्ल देने में मदद मिलती थी।[6] इसके लेखक, उनका उपदेश और इसके औपचारिक-अनौपचारिक प्रबंधन की प्रक्रिया में यह सारा क्रिया-कलाप एक वस्तु या व्यापार-सा बन गया जिसमें छवियों और चित्रणों का सार्वजनिक उपभोग होता था और व्यवहार-विचार की एक ख़ास सिफ़ारिश की जाती थी। इस प्रकार की सचेतन उपदेशात्मक और रीति-रिवाजी नियमावलियों में यौनिकता पर नियंत्रण, शैक्षणिक सुधार, बचत, शिशुपालन और घरेलू व्यवस्था जैसे विषय एक गंभीर सामाजिक सरोकार, वैज्ञानिक छान-बीन और सुधारवादी कोशिशों का हिस्सा बन गए। मुख्यतः मध्यमवर्गीय, उच्च जातीय, सवर्ण हिंदू गृहस्थ स्त्री की स्थितियों, ज़िम्मेवारियों, समस्याओं और ऊहापोह से संबंध रखने का दावा करने वाली इन निर्देशिकाओं के अंतर में विस्तृत और सटीक निर्देश थे। ऐसे लेखन से एक ऐसी स्त्री की छवि निर्मित और मज़बूत हुई जो उत्पादक संसाधनों और गतिविधियों से ज़्यादा-से-ज़्यादा जुदा थी। कई-एक पत्रिकाओं, दिशा निर्देशक पुस्तिकाओं और प्रकाशनों में पुरुषों के नज़रिए से एक आदर्श स्त्री की ऐसी छवि बनाई गई जो पुरुष दुनिया के अधीन थी और आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं थी। मध्यवर्गीय, उच्च जातीय स्त्री को पतिव्रता, आज्ञाकारी, धार्मिक और घरेलू कामों में पारंगत बनने की सीख दी गई।[7] (चित्र-1)

---

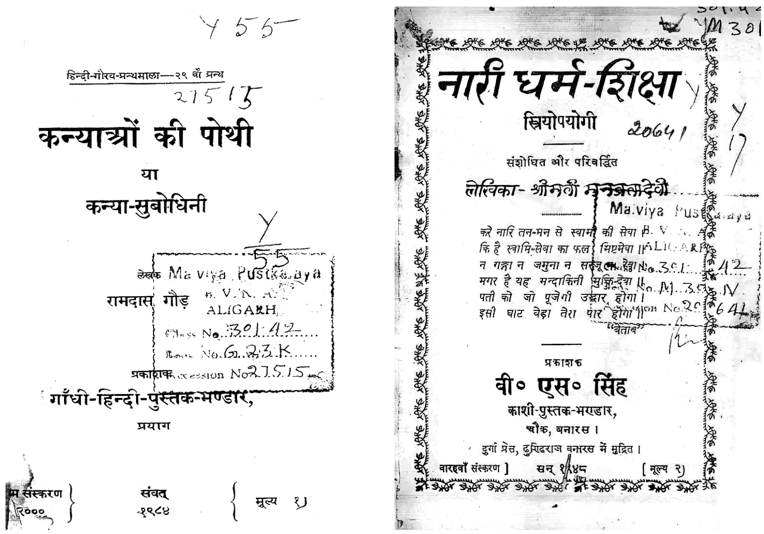
[4] पार्थ चटर्जी (1993) : 120–21.

[5] उमा चक्रवर्ती (1989) : 27-87; ऐनी मैक्लिंटॉक (1995) : 1-4.

[6] चारु गुप्ता (2012) : 100-12.

[7] हनुमान प्रसाद पोद्दार (1929) : 24–5; बालकृष्ण वाजपेई, (1934); गुप्त 'पागल'(1921); जयदयाल गोयनका (1937); महेंदुलाल गर्ग (1930); बाबू सन्नूलाल गिरदावर गुप्त (1922); जर्नादन जोशी (1918); कन्नोमल (1923); चिंतामणि 'मणि' (1935); तोताराम वकील (1925).

चित्र 1 : बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध से नियमावलियों के आवरण



इन पुस्तिकाओं में यह बार-बार ज़ोर दिया गया कि स्त्रियों को अर्थाजन या आर्थिक बेहतरी के बारे में सोचना नहीं चाहिए। इसके बजाय उन्हें अपनी ऊर्जा नैतिक उत्थान में लगानी चाहिए। साथ ही, उन्हें घरों के अंदर शरीर, हृदय और मस्तिष्क के उत्थान पर ध्यान देना चाहिए।[8] इन पुस्तिकाओं में यह सिखाया गया कि उन्हें कैसे व्यवहार करना चाहिए, कैसे समस्याओं का समाधान करना चाहिए, कैसे सोचना-समझना-काम करना चाहिए। इन लेखनों में अधिकतर सवर्ण जाति की सोच और सर्वोच्चता सर्वप्रमुख थी। कभी-कभी इस प्रकार का लेखन लिंग-संवेदना भी दर्शाता था, लेकिन ऐसे में भी उसके पाठक पहले से निश्चित थे।

ये नियमावलियाँ ख़ासकर उच्च जाति और मध्यमवर्गीय स्त्रियों को संबोधित करते हुए भी अपने विशेष प्रकार के चित्रणों से दलित स्त्रियों के बारे में कुछ निश्चित विचार प्रवाहित करती थीं। यद्यपि इस इतिहास में दलित स्त्रियाँ कभी भी मुख्य कर्त्ता या किरदार के रूप में अवतरित नहीं होतीं, फिर भी कई दृश्य-अदृश्य तरीक़ों से उनकी मौजूदगी समाज के प्रभुत्वशाली सांगठनिक ढाँचों को अंकित करने में अहम भूमिका निभाती है। कई बार इन संहिताओं में दलित स्त्रियों को एक स्त्री के रूप में संबोधित ही नहीं किया जाता था। इसके स्थान पर उन्हें प्रायः उनकी जाति और उनके 'लांछित' पेशों से संबोधित किया जाता था। लेख का यह हिस्सा अफ़्रीक़ी-अमेरिकी स्त्रीवादी लेखन से भी प्रेरणा लेता है, जो एक आलोचनात्मक नज़रिए से दर्शाता है कि किस प्रकार अश्वेत स्त्री और उसके शरीर को कई बार प्रभुत्वशाली श्वेत लेखन में असभ्यता, अविवेकता, कुरूपता, निम्नता और 'अतिशय' यौनिकता का प्रतीक बताया गया। इसके विपरीत श्वेत स्त्री और उसके शरीर को सभ्यता,

[8] सेठ विद्यापति (1922) : 339-42.

विवेकता, सुंदरता और विशिष्टता का प्रतीक माना गया (टोनी मॉरिसन 1992; बेल हुक्स 1992; डब्ल्यू. डी. जॉर्डन 1968; मार्गरेट एल. हंटर 2005; पेट्रीशिया हिल कॉलिन्स 2005)।

दलित स्त्रियों के इस प्रकार के चित्रणों को अगर एक साथ देखा जाए तो इसमें अतीत के साथ कुछ निरंतरता है, पर इस दौर में इन चित्रणों में कुछ नए मुहावरे, प्रतीक और आयाम जुड़ते हैं, ख़ासकर आधुनिक, व्यापक प्रिंट संस्कृति के विकास के संदर्भ में। अध्येताओं ने अपने शोधों में यह दिखाया है कि किस प्रकार कई प्राचीन ग्रंथों और महाकाव्यों, जैसे *मनुस्मृति, रामायण* और *महाभारत* में दलित और द्रविड़ स्त्रियों को प्रायः अश्लील, विश्वासघाती, ख़तरनाक, प्रदूषित और 'गंदा' चित्रित किया गया (विजिया भारती 1995; कैथलीन एम. अन्र्डल 1991)। उमा चक्रवर्ती बताती हैं कि दलित स्त्रियों के निरंतर और बार-बार नकारात्मक और झूठे चित्रण की जड़ें प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं में गहरे गुँथी हैं (उमा चक्रवर्ती 2004)। औपनिवेशिक उत्तर भारत में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ रचनाओं में ऐसे चित्रण नए आकार और अर्थ में पुनर्प्रवेश करते हैं।

इन नियमावलियों के लेखकों और पाठकों द्वारा निम्न जाति की स्त्रियों की सामाजिक हैसियत, जीवन पद्धति, कपड़े, प्रवृत्ति और व्यवहार को एक अलग साँचे में ढाला गया। उच्च जाति की हिंदू स्त्री के विपरीत दलित स्त्री की एक प्रति-छवि निर्मित करने की कोशिश की गई। इससे 'स्व' और उससे अलग 'दूसरे' के निर्माण को मान्यता मिली। यद्यपि उच्च जाति के पुरुष लेखकों ने ही ज़्यादातर ऐसे चित्रण किए, पर उच्च जाति की स्त्रियों ने भी कई बार दलित स्त्रियों के ऐसे (कु)चित्रण और एक ख़ास छवि के निर्माण में योगदान किया।[9]

इन संहिताओं में उच्च जाति की स्त्रियों को अपने शरीर को ढाँपकर रखने, सुघड़ गृहिणी बनने, ज़्यादा ऊँची आवाज़ में नहीं बोलने, लड़ाई-झगड़ा और कानाफूसी न करने और दूसरी स्त्रियों से ज़्यादा बातचीत नहीं करने की हिदायत दी गई। साथ ही, इन्हीं सब कार्यवाहियों को दलित स्त्रियों की पहचान के साथ जोड़ा गया। नैतिक रूप से पवित्र, गुणवान और आदर्श हिंदू स्त्री की छवि को दलित स्त्रियों के नकारात्मक चित्रण के आमने-सामने स्थापित किया गया। दलित स्त्रियों को कई बार फूहड़, कर्कश, कुलटा, स्त्रीहीन, नग्न, बेशर्म और असांस्कृतिक घोषित किया गया। एक ऐसी नियमावली – *कन्याओं की पोथी या कन्या सुबोधिनी* – जो लड़कियों और स्त्रियों को संबोधित थी और सवर्ण स्त्रियों के सही व्यवहार को विस्तार से रेखांकित करती थी, का मानना था कि सवर्ण स्त्रियों की यही पहचान है कि वे एक-दूसरे से झगड़ा नहीं करतीं, किसी की चुगली और बुराई नहीं करतीं, गाली नहीं देतीं और गंदे और अभद्र शब्दों का इस्तेमाल नहीं करतीं।[10] एक नियमावली में कहा गया :

> आपस में झगड़ा-लड़ाई, गाली-गलौज भलेमानुसों के घरों में नहीं होता। पढ़े-लिखे लोग

[9] रुक्मणी देवी (1919); यशोदा देवी (1910); हुक्मा देवी (1932); मनव्रता देवी (1948).

[10] बालकृष्ण वाजपेई (1934) : 62.

> झगड़ा नहीं करते और बुरी बातें मुँह से नहीं निकालते। नीचों-ऊँचों में यही भेद है। नीच लोग लुगाई आपस में लड़ते हैं, गालियाँ बकते हैं, नंगपन करते हैं।[11]

'अश्लील' भाषा निम्न जाति की स्त्रियों का लक्षण माना गया। उनकी निम्नता दूसरी स्त्रियों के साथ नित लड़ाई-झगड़े में व्यक्त होती थी। दलित स्त्रियों के हाव-भाव, चाल-चलन और चित्रण में कुछ बातों को आम माना गया, जैसे चढ़ी हुई त्योरियाँ, पैर पटकना और फुसलाना। इस प्रकार के साहित्य में 'स्त्री' की निर्मिति के दो पहलू थे : सवर्ण – जैसी स्त्री है और होनी चाहिए; दलित – जैसी स्त्री होती है और जैसी कदापि नहीं होना चाहिए। कई बार सुधारवादी धाराएँ भी ऐसे जातिवादी साँचों में ढल गईं। उदाहरण के लिए, मल्लाह जाति पर एक प्रायः सहानुभूतिपरक लेख में उस जाति की स्त्रियों के बारे में यह कहा गया :

> मल्लाह स्त्रियाँ गाली आदि बकने व लड़ाई-झगड़ा करने में बहुत ही तेज़ होती हैं। ज़रा सी बात पर ये आपको सात पुश्तों तक का स्मरण दिला देती हैं। इनकी ज़बान पर लगाम लगाने में अभी तक कोई भी सफल नहीं हो सका।[12]

औपनिवेशिक भाषा भी कभी-कभी इसी प्रकार के सूचकों से भरी होती थी। उनमें भी कहीं-कहीं दलित स्त्रियों को भद्दा, अश्लील और मोटे रहन-सहन वाली चित्रित किया गया। एक ब्रिटिश अधिकारी के शब्दों में :

> निम्न जाति की ग्रामीण स्त्री जब एक बार उत्तेजित होती है, तो उसके फेफड़े की लगातार ताक़त विश्वास से परे है। उसकी आवाज़ कर्कश और मोटी होती है। वह चीख-चीख कर गाली-गलौज करती है। कभी ऐसा लगता है कि वह अपने चरम पर पहुँच गई है, लेकिन उसका यह उत्कर्ष भी आख़िरी नहीं होता। इसके तत्काल बाद ही विरोधी स्त्री भी इसी प्रकार चीखना-चिल्लाना शुरू करती है, जो तेज़-से-तेज़ होते चरम पर पहुँचने लगता है, ऐसे जैसे कि किसी एक की रक्त की शिराएँ फटकर बाहर आ जाएँगी। इसकी निरंतरता असाधारण है।[13]

एक नियमावली में तुकबंदी, क़िस्से और पत्रों के ज़रिए विभिन्न स्त्रियों को विस्तृत निर्देश दिए गए। इसमें विशेषकर निम्न जाति की स्त्रियों को ठगनी, चटोरी और कुटनी कहा गया (लाला बांकेलाल, 1909)। फिर, और भी 'विशेषताएँ' जोड़कर उनको फूहड़, गँवार, कपटी, दुष्ट, ख़तरनाक और घर-तोड़क भी क़रार किया गया (लक्ष्मीधर वाजपेई, 1941)। एक नियमावली ने अपने सबसे अंतिम और महत्त्वपूर्ण अध्याय 'जोखिमों से चेतावनी' शीर्षक के अंतर्गत मुख्यतः सवर्ण हिंदू मध्यमवर्गीय लड़कियों और स्त्रियों को संबोधित करते हुए कहा :

---

[11] रामदास गौड़ (1927) : 19.

[12] 'राजा' महेंद्र (1952) : 106.

[13] जूडिथ वॉल्श (1929) : 98-9.

> गिरस्तों के घर में तरह तरह की कुटनियाँ भी आती जाती रहती हैं। मालिन, नाईन, कहारिन, चमाइन, धोबिन, बरइन, पिसनहारिन, मनिहारिन, दाई आदि अनेक तरह की औरतों से नित्य काम पड़ता है। यही सब कुटनपन भी करती हैं। बसे घर में लड़ाई लगा देती हैं। इधर की उधर शिकायतें करती फिरती हैं। पति की कुचाल की बातें कहकर बहू का मन बिगाड़ती हैं। पुरुष स्त्री में झगड़े करा देती हैं। सास-पूतोह, ननद भौजाई, देवरानी-जेठानी को लड़ा देती हैं। किसी बहू को... घर में सबसे लड़ाकर... भगा ले जाती हैं। ...यह कुटनियाँ बदमाशों से मिली रहती हैं।... प्यारी बेटी! होशियार रहो। ऐसी लुगाइयाँ आकर के बैठें तो उनका काम है इधर उधर की बुरी कहानियाँ कहना। तुम उनसे साफ़ कह दो कि यह बातें बुरी हैं। मुझे इन बातों की फ़ुर्सत नहीं है। *रामायण, महाभारत* की कथा हो तो सुनो भी। ...यही कुटनियाँ खाने-पीने की चीज़ें बाज़ार से लाकर बहू-बेटियों की ज़बान बिगाड़ती हैं। ...इनके सारे काम झूठे होते हैं। लड़ाई एक कराती है, दूसरी मेल कराती, तीसरी टोटके करती, इस तरह कभी-कभी कई-कई कुटनियाँ देखने में अलग-अलग पर असल में मिली-जुली हुआ करती हैं। इनसे बचो।[14]

स्त्रियों के बीच ऐसी विषमता से 'दूसरेपन' की विचारधारा मज़बूत हुई। दो विपरीत ध्रुवों पर खड़ी सवर्ण और दलित स्त्री को बतौर 'सही-ग़लत' और 'अच्छा-बुरा' के ढाँचे में ढालने का प्रयास किया गया। एक अन्य नियमावली *हमारी पारिवारिक व्यवस्था* में बताया गया कि 'दाई' और 'भंगन' विशेष रूप से सवर्ण स्त्रियों को बिगाड़ने के लिए ज़िम्मेवार हैं और उनके कारण कई परिवारों में ईर्ष्या, द्वेष और कलह बढ़ रही है।[15]

चित्र 2 : एक कुटनी का चित्रण



व्यंग्य चित्रावली, इलाहाबाद: चाँद कार्यालय, 1930.

---

[14] रामदास गौड़ (1927) : 222-24.

[15] जगपति चतुर्वेदी (1946) : 68-9.

यह भी लिखा गया कि सवर्ण इलाक़ों में ऐसी ख़तरनाक, 'नीच' और 'भ्रष्ट' स्त्रियों की 'सफ़ाई' कर देनी चाहिए क्योंकि उनसे गंभीर चरित्र स्खलन होने का ख़तरा होता है।[16] एक अन्य नियमावली में सवर्ण स्त्री को चेताया गया :

> नाईन, मनिहारिन, कहारिन – इन स्त्रियों से ज़्यादा सतर्क रहो। इनके द्वारा बड़े-बड़े अनर्थ अब तक हो चुके और हो रहे हैं।... इनकी संगति से तुम्हारे पवित्र मन में पिशाच प्रवेश कर जाएगा।[17]

इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण नियमावली थी *स्त्री शिक्षा,* जिसे संयुक्त प्रांत के एक आर्य समाजी ने लिखा और जिस पर बाद में प्रतिबंध भी लगा था। इसमें सवर्ण हिंदू स्त्रियों को काफ़ी बारीकी से मुस्लिम मर्दों और 'मुस्लिम' प्रतीकों और संस्कृति से दूर रहने के विस्तृत निर्देश दिए गए थे।[18] साथ ही, विधवाओं के लिए दिशा-निर्देश वाले अध्याय में उन्हें यह भी चेतावनी दी गई कि 'कहारिन, नाईन, धोबिन, पिसनहारिन, मनिहारिन और भंगन से... मंसूबे गाँठ कर बाहर निकलने का यत्न न करें'।[19] ऐसी चेतावनियाँ धर्मांतरण के डर से भी जुड़ी हुई थीं। पश्चिमी मिशनरी स्त्रियों पर तो काफ़ी कुछ निगरानी रखी जाने लगी थी, लेकिन कुछ निम्न जाति की स्त्रियाँ ईसाई या इस्लाम धर्म ग्रहण कर रही थीं। इसलिए यह डर था कि वे सवर्ण स्त्रियों, विशेषकर विधवाओं को धर्मांतरण के लिए प्रेरित कर सकती हैं। सवर्ण स्त्रियों के साथ निम्न जाति की स्त्रियों के मेल-जोल को आसानी से नियंत्रित नहीं किया जा सकता था, क्योंकि वे कई कामों के लिए सवर्ण घरों के अंदर आती थीं और सवर्ण स्त्रियों से अनौपचारिक बातचीत भी करती थीं। सबसे ज़्यादा डर था कि निम्न जाति की स्त्रियाँ विधवाओं को घर से भाग जाने, धर्मांतरण और पुनर्विवाह के लिए उत्साहित कर सकती हैं (शिव शर्मा 1927; नारायण दत्त शर्मा 1927/1929/1931)। मिशनरी और मुसलमानों के अलावे दलित स्त्रियों को धर्मांतरण कराने वाली एक अदृश्य उत्प्रेरक के रूप में देखा जा रहा था। किसी-किसी लेख में भी यह चेताया गया कि 'भोली-भाली' हिंदू स्त्रियों को चुरिहारिन, पनिहारिन और भंगिन से विशेष सावधान रहना चाहिए क्योंकि वे मेलों, तीर्थ-स्थानों या घरों से स्त्रियों को भड़का कर भगा ले जाती हैं।[20]

ये 'बेशर्म' स्त्रियाँ तथाकथित गुणवान सवर्ण हिंदू स्त्रियों से विपरीत थीं। इन नियमावलियों में दलित स्त्रियों को 'स्त्री' का दर्जा भी नहीं दिया गया; यह दर्जा केवल सवर्ण स्त्री के लिए सुरक्षित था। दलित स्त्रियों का ऐसा चित्रण, जो उनके 'बदबूदार' पेशों से जुड़ा था, वास्तव में पारिवारिकता की संकीर्ण विचारधारा से भी जुड़ा हुआ था जिसमें नारीत्व की अवधारणा को

[16] केशवकुमार ठाकुर (1932) : 70.

[17] रामतेज पाण्डे (1931) : 38; जयदयाल गोयनका (1937) : 21-22; 34.

[18] शिव शर्मा (1927); चारु गुप्ता (2012) : 269-78.

[19] शिव शर्मा (1927) : 12.

[20] एक प्रत्यक्षदर्शी (1930) : 87-9.

श्रम के योगदान और घर में स्त्री श्रम के आर्थिक पहलू जैसे तत्त्वों से पूरी तरह जुदा कर दिया गया था। अभिजात स्त्री के श्रम के भौतिक और सामाजिक पहलुओं की अनदेखी से काफ़ी संख्या में श्रम और उपार्जन करने वाली दलित स्त्रियों के काम को हीन दृष्टि से आँका गया।[21]

इन नियमावलियों में मध्यमवर्गीय स्त्रियों के घर के काम को एक विशिष्ट, पुरस्कृत दर्जा और शिशुपालन को एक ख़ास प्रतिष्ठा दी गई। इसके विपरीत दलित स्त्री को, जो घर के बाहर भी काम करती थी और अपना जीवन विशिष्ट तौर पर पत्नीत्व और मातृत्व के लिए समर्पित करने में असमर्थ थी, कमतर दिखाया गया। यह टिप्पणी की गई कि ये निम्न जाति की स्त्रियाँ, जो अपने घरों के बाहर काम करती हैं, अक्सर दूषित आचरण की होती हैं, अपने बच्चों का भली-भाँति लालन-पालन नहीं करती हैं, अपने पतियों को पूरी तरह प्रसन्न और सुखी नहीं रख सकती हैं और उनके सारे कोमल गुण नष्ट हो जाते हैं; उनके 'नारीपन' और स्त्रीत्व का नाश हो जाता है।[22] यह भी कहा गया कि दलित स्त्रियाँ घरों के बाहर लंबे घंटों तक काम करने के लिए अपने बच्चों को कभी-कभी अफ़ीम खिला देती हैं। इस प्रकार इस साहित्य में स्त्रियों के बारे में दो तरह के साँचे बनाए गए। पहले प्रकार में जो स्त्रियाँ घर से बाहर काम नहीं करने की स्थिति में थीं, उन्हें 'आदर्श' स्त्री बताया गया, जबकि दलित स्त्रियाँ, जिन्हें अपने श्रम के लिए मज़दूरी मिलती थी, उनके शारीरिक श्रम और उसके मूल्य का अवमूल्यन किया गया। सवर्ण और दलित स्त्री के बीच के भेद को अंकित करने के लिए इस साँचे के इस्तेमाल से निजी और सार्वजनिक का विरोधाभास भी परिभाषित, पुनर्परिभाषित और मज़बूत हुआ। दलित स्त्रियों में नारीत्व और सौंदर्य कमतर बताया गया, जोकि उनके यौनिक चरित्र को भी इंगित करता था। दलित स्त्री के शरीर की छलकती और सवालिया यौनिकता के बरअक्स सवर्ण स्त्री के शरीर को शांत और एकांत चित्रित किया जाता है। दलित स्त्रियों को कई बार निर्लज्ज और रंडी क़रार दिया गया।[23]

अंग्रेज़ों के सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से भी इस प्रकार के चित्रण को बढ़ावा मिला। औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीयों के यौनिक व्यवहारों को कई बार 'आवेशी अप्रयोजन', 'अनियमन' और 'दुराचारी' सेक्स के आईने से देखा गया (फिलिपा लेविन 2003)। यह समझ कभी-कभी दलित स्त्रियों की निर्मिति में और भी उभर कर आई। यौनिकता के बारे में मेडिकल इतिहास और सिद्धांत कहीं-कहीं उन शरीरों के साथ गुँथे हुए थे जो दरअसल दलित और स्त्री देह के थे। इन शरीरों को नग्नता और अपेक्षाकृत अधिक काली चमड़ी से जोड़ा गया। यौनिक स्वच्छंदता को गर्म जलवायु और सार्वजनिक स्थलों में खुले विचरण के साथ भी जोड़ा गया, जिसे दलित स्त्रियाँ प्रतिबिंबित करती थीं। दलित स्त्रियों को कभी-कभी यौनिकता के स्तर पर अनैतिक, आवारा और सुलभ समझा गया, जो खुलेआम व्यभिचार और विवाह से पहले सेक्स के लिए तैयार रहती थीं। उनके नैतिक चरित्र को कमज़ोर और उनकी शादियों को अस्थाई क़रार देते हुए उनपर यह आरोप लगाया गया कि वे बार-बार

---

[21] आचार्य चतुरसेन (1999) : 8-9.

[22] हनुमान प्रसाद पोद्दार (1929); विद्यापति सेठ (1922) : 339-42.

[23] बालकृष्ण वाजपेई (1934) : 76; रुक्मणी देवी (1919) : 28.

विवाह संबंध तोड़ती और छोड़ती हैं। इन सबको उनमें प्रचलित वेश्यावृत्ति और उनकी सहज उपलब्धता से जोड़ा गया।[24] इस प्रकार दलित स्त्रियों के विवाह-पूर्व सेक्स जीवन, विवाह-विच्छेद, विधवापन और सार्वजनिक उपस्थिति की चर्चा करके उन्हें उच्च जाति से अलग अंकित किया गया।[25] प्राच्य लेखनों में 'अशुद्ध' पेशों में संलग्न समूहों को उनकी स्त्रियों की यौनिक उपलब्धता से भी आँका जाता था।[26] विरोधाभासी रूपों में एक ओर दलित स्त्री के शरीर को स्त्रीहीन चित्रित किया गया, तो दूसरी ओर उसे कामुकता से पूर्ण देखा गया। दलित स्त्री का शरीर एक साथ ही अनाकर्षक और लुभावना, वितृष्णापूर्ण और आकर्षक, अस्पृश्य और उपलब्ध, कुरूप और सुंदर, उत्पादक और प्रजनक रूपों में चित्रित किया गया। दलित स्त्रियों के शरीर पर होने वाली रोज़ाना की जाति हिंसा को उनके कथित ओछे चरित्र का नाम देकर अक्सर छिपाया गया।[27] विलियम क्रूक जैसे संवेदनशील अधिकारी ने भी कभी-कभी सवर्णों का नज़रिया अपनाते हुए दलित स्त्रियों के लैंगिक व्यवहारों, विवाह रीतियों और यौनिकता का आकलन किया :

> यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि हमारे कोर्ट के रेकॉर्ड राजपूत वर्ग के पुरुषों के साथ निम्न जाति की स्त्रियों के संबंधों के उदाहरणों से भरे हुए हैं, और ग्रामीण समाज के इस निचले तबक़े में इस बात को लेकर तनिक भी नैतिक आग्रह नहीं है। इस प्रकार की चीज़ों का प्रभाव सर्वज्ञात है और इसकी व्याख्या की कोई ज़रूरत नहीं है।[28]

एक अन्य जगह क्रूक लिखते हैं : 'नियम के तौर पर भंगी स्त्रियाँ चरित्रहीन ही होती हैं।'[29] दलित स्त्रियों के चरित्र और शरीर का ऐसा तिरस्कृत सार्वजनिक आकलन कई बार और भी अधिक वृहद इसलिए हो जाता था क्योंकि दलित स्त्रियाँ अधिकतर पुरुषों के साथ-साथ कृषि मज़दूरी में संलग्न थीं। इसलिए एक पुस्तिका में कहा गया :

> यदि मज़दूरिनियों के अंदरूनी जीवन पर आप ज़रा दृष्टि डालें तो आप भी हमारे साथ यही कहेंगे, कि उनमें 100 में 80 स्त्रियों के चरित्र हद दर्जे के ख़राब होते हैं। इन मज़दूरिनों के चरित्र के बारे में सेंसस के सुपरिंटेंडेंट ने लिखा है कि मज़दूरिनों में से बहुत-सी तो सचमुच वेश्याएँ हैं। दुकानों पर बैठने वाली, तरकारी बेचने वाली और पान आदि बेचने वालिओं के बारे में अभी हम कुछ नहीं कह सके हैं जोकि डंके की चोट पर अपना सर्वनाश करती हैं। यहाँ तो 1000 में केवल 2-4 सदाचारी होती हैं।[30]

---

[24] *सेंसस ऑफ़ इंडिया* : पंजाब (1911) : 293-94.

[25] पौलिन कोलेंडा (1987) : 289-356.

[26] सुसन बेली (1999) : 196.

[27] ओलिवर मेंडलसोहन और मारिका विक्जियानी (1998) : 11.

[28] डब्ल्यू क्रूक (1974) [1896] : xxiv.

[29] वही : 291.

[30] रामरख सिंह सहगल (1922) : 77.

उस दौर के आयुर्वेदिक प्रकाशनों में भी कई बार निम्न जातियों को विभिन्न बीमारियों के संभावित वाहक के रूप में देखा गया और सवर्णों को चेतावनी दी गई कि वे उन्हें अपने घरों में ध्यानपूर्वक ही घुसने दें। गृहस्थ जीवन के सुसंस्कृत परिवेश पर ज़ोर देते हुए एक संहिता ने लिखा कि निम्न जाति की स्त्रियों से निकटता घर के माहौल को गंदा, रोग्य और अस्वस्थ बना सकती थी (केशवकुमार ठाकुर 1932)। इस संदर्भ में यह भी ग़ौरतलब है कि कई संहिताओं में सवर्ण स्त्रियों को निम्न जाति की स्त्रियों और घरेलू नौकरों का व्यवहार सुधारने, उन्हें स्वच्छता का पाठ पढ़ाने और सही रास्ते पर लाने की ज़िम्मेवारी दी गई (स्वप्ना बनर्जी 2004)। इस बात को एक व्यापक संदर्भ में देखना होगा, जहाँ कई प्रकार की घरेलू ज़िम्मेदारियों को घरेलू 'अभिशासन' के साथ जोड़ा गया। एक ओर सवर्ण स्त्रियों को अपने बच्चों को शिक्षित करना था, तो दूसरी ओर उन्हें अपने साथ जुड़ी हुई निम्न जाति की स्त्रियों को भी 'सही' व्यवहार और सफ़ाई सिखानी थी। यह तर्क दिया गया कि सवर्ण स्त्रियों की सोहबत में निम्न जाति की स्त्रियाँ साफ़-सफ़ाई और संस्कृति के कुछ गुर सीख सकती हैं। कई संहिताओं में यह निर्देश दिए गए कि अस्पृश्य स्त्रियों और नौकरों के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए और उनसे किस प्रकार काम करवाना चाहिए। सवर्ण स्त्रियों को यह हिदायत दी गई कि वे निम्न जाति की स्त्रियों से पूरा-पूरा काम कराएँ, उनके काम पर लगातार नज़र रखें और जब वे घरों के अंदर आएँ, तो उन पर विशेष नज़र रखें।[31] इस दौर में शिशु पालन और 'उत्तम संतान' से संबंधित साहित्य भी 'संतति शास्त्र' के नाम से बड़ी मात्रा में प्रकाशित हो रहा था।[32] इन ग्रंथों में कई बातों के अलावा यह भी कहा गया कि अगर किसी सवर्ण स्त्री को अपने बच्चे को दूध पिलाने के लिए धाय की ज़रूरत पड़े तो वह हमेशा सवर्ण जाति की ही होनी चाहिए। साथ ही, वह स्वस्थ, पुष्ट, सुडौल, सच्चरित्र, सुशील और नम्र होनी चाहिए।[33] इस प्रकार जाति विशेषताओं को स्तनपान के माध्यम से स्थानांतरित किया गया।

इसके साथ-ही-साथ कभी-कभी सवर्ण पुरुषों और निम्न जातीय स्त्रियों (और सवर्ण स्त्रियों तथा दलित पुरुषों) के बीच संभावित सेक्स संबंधों और आपसी छेड़-छाड़ का भी डर ज़ाहिर किया गया।[34] सवर्ण स्त्रियों को इन 'निम्न' स्त्रियों से सावधान रहने की हिदायत दी गई जो उनके पतियों को रिझा सकती हैं।[35] इसके अलावा, पुरुषों को संबोधित उपदेशात्मक साहित्य में, विशेषकर ब्रह्मचर्य और देश की सेवा के लिए वीर्य संरक्षण से संबंधित संहिताओं में, यौनिक रूप से दबंग निम्न जाति की स्त्री को इंद्रियों के आवेश और अत्यधिक सेक्स का कारण बताया गया (चारु गुप्ता 2012)। उदाहरण के लिए एक संहिता में उल्लेखित है कि वीर्य नुक़सान के बचाव और सेक्स उकसाने वाले विचारों से दूर रहने के लिए सवर्ण पुरुषों को इन

[31] गुप्त 'पागल'(1921) : 83; चन्द्रिकानारायण शर्मा (1938) : 234.

[32] लुजिया सेवेरी (2014) : 381-97.

[33] अयोध्या प्रसाद भार्गव (1923); गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' (1928) : 489-91.

[34] हनुमान प्रसाद पोद्दार (1929) : 25.

[35] केशवकुमार ठाकुर (1930) : 105–6.

स्त्रियों से विशेषकर दूर रहना चाहिए : तंबोलिन, मालिन, कुंजरी, भटियारिन, पनिहारिन, धोबिन, नाईन, ग्वालिन और तेलिन।[36]

कभी-कभी, यद्यपि ऐसा बिरले ही होता था, दलित स्त्रियाँ पारंपरिक ज्ञान, दिव्य शक्ति संपन्न बेहतर स्वस्थ शरीर और क्षमता के साथ चित्रित होती थीं। उदाहरण के लिए, पर्दा प्रथा के ऊपर विचार-विमर्श में एक तर्क यह था कि सवर्ण स्त्रियाँ अस्वस्थ होती थीं क्योंकि वे हमेशा अपने को परदे में क़ैद रखती थीं। या, ऊँची जाति की स्त्रियों को घरेलू काम-काज का औचित्य बताने के लिए यह तर्क दिया जाता था कि निम्न जाति की स्त्रियों का स्वास्थ्य बेहतर था क्योंकि वे ज़्यादा शारीरिक श्रम, जैसे कुएँ से पानी निकालना, अनाज पीसना और अन्य घरेलू काम करती थीं।[37] इस प्रकार दलित स्त्री के श्रमिक शरीर का कभी-कभी सुगठित और स्वस्थ शरीर के रूप में रूमानीकरण किया जाता था, जो लगातार कठोर शारीरिक श्रम कर सकता था। निश्चित तौर पर इसकी यह भी व्याख्या की जा सकती है कि यह दलित स्त्रियों के शरीर से और ज़्यादा श्रम कराने और घरों-खेतों में उनके श्रम को ज़्यादा रोपित करने के मक़सद से भी प्रेरित था। अंग्रेज़ों की समझदारी, जो वितृष्णा और आकर्षण की जटिलताओं से भरी थी, इतिहास, यात्रा वृत्तांत और 'वैज्ञानिक' नस्लवाद की पगडंडियों से चलकर दलित स्त्रियों के ऐसे चित्रण को और मज़बूत कर रही थी।[38] यह कहा गया कि दलित स्त्री शारीरिक श्रम के कारण बच्चा जनने के दौरान दर्द नहीं अनुभव करती है। एक नियमावली के अनुसार :

> जहाँ बहुत-सी स्त्रियों को प्रसव-काल में असह्य वेदना होती है वहाँ गाँवों की छोटी जातियों की स्वस्थ स्त्रियों को बच्चा पैदा होने के घंटे-आध घंटे पहले तक खेतों में काम करते देखा गया है। उन्हें प्रसव में कोई कठिनाई नहीं होती और उन्हें दाई की आवश्यकता भी नहीं होती।[39]

स्त्रीवादी विचारकों का मानना है कि दर्द का अनुभव – और इस प्रकार शरीर की मूर्तता – संकट की घड़ी से गुज़र रहे समाज की एक प्रकार की वास्तविकता और निश्चितता का बोध कराती है।[40] सवर्ण स्त्रियों की प्रसव पीड़ा का अनुभव इतना संजीदा और सत्य था कि प्रसव पीड़ा का अनुभव कम या नहीं करने वाली स्त्रियों को कभी-कभी स्वाभाविक रूप से डाईन होने का प्रमाण माना जाता था। ऐसे चित्रणों में ऊँची जाति की स्त्रियाँ 'सहानुभूति' का पात्र होती थीं। दलित स्त्रियों को सक्षम और समर्थ बताते हुए सवर्ण स्त्रियों की सत्ताविहीन और वंचना का शिकार होने की मिथ्या छवि भी प्रचारित की जाती थी। इसके अलावे, ऐसी छवियों के ज़रिये दलित स्त्री को डर और ख़ौफ़ की मूर्ति के रूप में दिखाना ज़्यादा संभव हुआ। दलित

---

[36] गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' (1929) : 10.

[37] *स्त्री समाज* (1929) : 659.

[38] *अबला हितकारक* (1887) : 88.

[39] रामनाथ लाल 'सुमन' (1933) : 264.

[40] ऐलेन स्कार्री (1985) : 185-91.

स्त्रियों को अशुभ और डाईन बनाने-मानने का चलन कई बार अफ़वाह से भी शुरू हुआ, जिसमें उन्हें बच्चाखोर के रूप में चित्रित किया गया। उदाहरण के लिए, अगस्त 1924 में कानपुर में अफ़वाह उड़ी कि एक कहारिन को अपने खाने के लिए एक मृत बच्चे को पकाते हुए पकड़ा गया। यह आरोप लगाया गया कि उसने नवजात बच्चे की हत्या की थी। यह भी रिपोर्ट किया गया कि बच्चे के पिता ने इस सारे मामले को अपने हाथों में ले लिया था और 24 अगस्त को शहर के तीन सार्वजनिक स्थलों में से एक में उस डाईन की जीते-जी चमड़ी उतारी जाएगी। इस कारण कई जगहों पर कोई 7000 लोग जमा हो गए। इसी बारे में एक अन्य रिपोर्ट में यह कहा गया कि डाईन को ज़मीन के अंदर कमर तक गाड़ दिया गया और फिर दो पागल कुत्तों ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। इसी प्रकार की अफ़वाह कोई एक साल पहले लखनऊ में भी उड़ी थी।[41]

इस प्रकार कई बार दलित स्त्री को कुटनी के रूप में चित्रित किया गया – आक्रामक, प्रतिशोधात्मक और डरावनी, जिससे सवर्ण स्त्री और पुरुष को दूर रहना चाहिए। वे सवर्णों की सामंजस्यता के बिखराव की एक सूचक थी। ऐसे नकारात्मक चित्रणों से वर्चस्वशाली सवर्ण संस्कृति से दलित स्त्रियों के अलगाव का लैंगिक कैनवास तैयार हुआ। इस साहित्य से साँचेवादी सोच और व्यवहार की ज़मीन मज़बूत हुई।

चमार दाई का निर्माण और अर्थ

औपनिवेशिक उत्तर भारत में दलित स्त्रियों की सबसे ज़्यादा निंदा दाई के चित्रण के ज़रिए देखी जा सकती है। दाईयों पर काफ़ी संख्या में शोध कार्य हुए हैं। कई अध्ययनों में दर्शाया गया है कि पश्चिमी आधुनिकता और उद्योगीकरण के आगमन के साथ दाईयों द्वारा घरों में बच्चा जनने का काम अस्पताल, मेडिकल सेवा और डॉक्टर से विस्थापित हो गया (ऐन ओकले 1984; बारबरा ऐरेनरेइच और डीर्डे इंग्लिश 1973; चार्लोट जी. बोर्स्ट 1995; जूडिथ डब्ल्यू. लेविट 1986; फ्लोयड रॉबी डेविस और एफ. सार्जेंट कैरोलिन 1997; वेंडी पर्किन्स 1996)। भारत के संदर्भ में भी यह तर्क दिया गया कि उपनिवेशवाद और पश्चिमी मेडिकल व्यवस्था के आगमन से स्वदेशी और पारंपरिक दाईयों के काम पर काफ़ी हमला हुआ।[42] यद्यपि यहाँ पर बच्चा जनने का काम अभी भी ज़्यादातर घरों में और स्त्रियों के हाथों में रहा। लेख के इस हिस्से में मैं यह दिखाना चाहती हूँ कि किस प्रकार दाईयों का बदलता हुआ चित्रण जाति के साथ नज़दीकी से जुड़ा था, किस प्रकार दाई के सवाल पर औपनिवेशिक आवाज़ों की संगति सवर्ण सुधारकों और राष्ट्रवादियों के साथ बैठ रही थी, और किस तरह भर्त्सनाओं

---

41 *पुलिस एब्स्ट्रैक्ट्स ऑफ़ इंटेलिजेंस*, यूपी (पीएआई), 6 सितंबर, (1924) : 287.

42 सेसिलिया वैन होलेन (2003) : 36-56; कल्पना राम और मार्गरेट जॉली (1998); पेट्रीशिया जेफ़री, रोजर जेफ़री और एंड्रू ल्योन (1989); सेंटी रोज़ारियो और सैमुअल जेफ़्री (2002); सुप्रिया गुहा (1998) : 145-61; जेनेट चावला (2006); अंशु मल्होत्रा (2003) : 229-59; गेराल्डिन फोर्ब्स (1994) : 152-72.

के बावजूद दलित दाईयाँ कुछ अधिकारों की माँग करते हुए अपने लिए एक स्वतंत्र क्षेत्र बनाने की कोशिश कर रही थीं और इस प्रकार 'नियंत्रण से बाहर' साबित हो रही थीं।

पूर्व औपनिवेशिक उत्तर भारत में गर्भधारण और प्रसव को एक प्रकार का प्राकृतिक, सहज कृत्य समझा जाता था, जिसकी कमान दाईयों के हाथों में होती थी। प्रसव का काम करने वाली स्त्री को अशुद्ध और प्रदूषित माना जाता था। वे मुख्यतः 'अस्पृश्य', ख़ासकर चमार जाति की स्त्रियाँ होती थीं।[43] वे एक प्रकार से हिंदू धर्म के अंदर और बाहर, दोनों रहती थीं। अंदर, क्योंकि उनका श्रम सामाजिक ढाँचे के निर्वाह के लिए अनिवार्य था। बाहर, क्योंकि उन्हें हिंदुओं के सभी विशेषाधिकारों से वंचित किया गया था।[44] यह पेशा प्रायः वंशानुगत था और इसमें निहित श्रम और कुशलता का स्तर काफ़ी उत्तम था। एक लोक कथन इस प्रकार था : 'चमाइन से पेट न छिपेले'।[45]

दलित दाईयों को आम तौर पर क़िस्तों में भुगतान किया जाता था और उनकी मज़दूरी काफ़ी कम थी।[46] पर 'चमारिन' दाई को आम तौर पर भूस्वामी को जागीरी शुल्क के रूप में साल में आधा रुपया देना पड़ता था।[47] लेकिन साथ ही ऐसी शोषणकारी व्यवस्था के बावजूद इनके कुछ इख़्तियार भी थे। वे गर्भवती स्त्री के साथ बेहद अंतरंग और नज़दीक होकर काम करती थीं, विशेषकर सूतिका गृह और अंतर घर में, और सवर्ण घरों का एक निर्णायक हिस्सा बन जाती थीं। उनका ज्ञान और कौशल अपरिहार्य था और इस कारण उन्हें कई बार असाधारण और अलौकिक जादुई ताक़तों से भी संपन्न समझा जाता था, और कम-से-कम जन्म के समय वे सम्मान और भय की प्रतीक होती थी। उत्तर प्रदेश में अंग्रेज़ी शासन के शुरुआती सालों में कन्या भ्रूणहत्या के मामलों में दाईयों का हाथ देखा गया।[48] साथ ही, उन्हें एक महत्त्वपूर्ण पर अनौपचारिक देशी भेदिए के रूप में भी देखा गया, जो अभिजात घरों के निजीखानों के बारे में ज़रूरी सूचनाएँ दे सकती थीं।[49] उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, जब औपनिवेशिक शासन जम गया और पश्चिमी, एलोपैथी चिकित्सा प्रणाली का चलन बढ़ गया, तब चिकित्सा विमर्शों में, और वैज्ञानिकों तथा डॉक्टरों द्वारा इन दाईयों को उनके पारंपरिक पेशे से विस्थापित करने की गंभीर कोशिशें शुरू हुईं। इन्हें मंदबुद्धि, अज्ञानी, गंदी, फूहड़ और बेकार चित्रित किया जाने लगा, जो नए तौर-तरीक़े सीखने में असमर्थ थीं।[50] दलित स्त्रियों के प्रसव और गर्भावस्था संबंधी कई व्यवहारों और पद्धतियों पर निगरानी रखने का काम शुरू हुआ।[51] शिशु मृत्यु दर को अकुशल दाई से जोड़ा जाने लगा।[52]

---

[43] जी. डब्ल्यू. ब्रिग्स (1920) : 24-26, 53-54; ई.ए. एच. ब्लंट (1931) : 242; जे. सी. नेस्फ़ील्ड (1885) : 22.

[44] लुईस औवेर्कर्क (1945) : 8-9.

[45] सतनाम सिंह (2011) : 195.

[46] एस. सी. चतुर्वेदी (1947) : 16.

[47] ए. टी. ऐटकिनसन (1879); एच. आर. नेविल (1904) : 134-35.

[48] मालविका कस्तूरी (2002); राधिका सिंघा (1998) : 130-37.

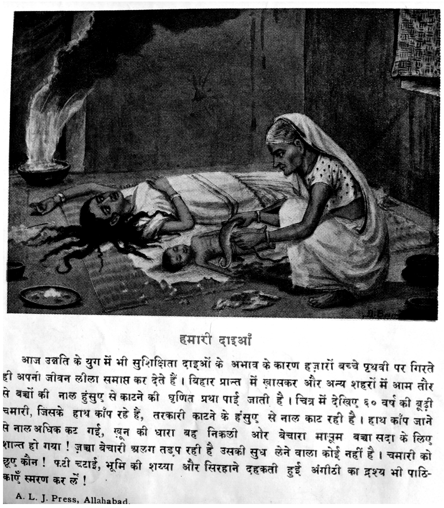
[49] सुसन बेली (1996) : 54, 92, 164-65, 177.

[50] गेराल्डिन फ़ोर्ब्स (1994) : 163-68.

[51] सीन लैंग (2005) : 357–78.

बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दौर में उत्तर भारत में हिंदुओं के जागरूक मध्यवर्गीय सुधारकों और राष्ट्रवादियों के साहित्य में भी दाई की निंदा प्रकट होने लगी। यह बार-बार ज़िक्र किया गया कि गर्भावस्था के दौरान सवर्ण हिंदू स्त्रियाँ पूरी तरह से दाई के रहमो-करम पर रहती हैं, जबकि इन दाईयों को कोई नियमित प्रशिक्षण नहीं मिला होता और उनकी आदतें बेहद गंदी होती हैं (केशवकुमार ठाकुर, 1932)। प्रसिद्ध *चाँद* पत्रिका के एक लंबे लेख में 'नैतिक और लैंगिक रूप से प्रदूषित' दाई को प्रगतिशील भारत में गंदी, भयावह और ख़तरनाक डाईन के रूप में चित्रित करने की कोशिश की गई, जिनका शरीर 'रोग और कीटाणु' से भरा होता है; वह 'चुड़ैल' जैसी दिखती है, उसके 'बाल जुओं से भरे' होते हैं, 'हाथ गंदे होते हैं' और उसके 'लंबे नाखूनों से कई बार जच्चा के मांस के चीथड़े-चीथड़े हो जाते हैं'।[53] *चाँद* के ही एक अन्य अंक में एक रंगीन तस्वीर छपी, जिसका शीर्षक था 'हमारी दाईयाँ'। यह चित्र न केवल उन्हें पूर्वाग्रहग्रस्त साँचे में रखता था, बल्कि उन्हें स्पष्ट तौर पर अपराधी नज़र से देखता था। चित्र के नीचे एक संदेश द्वारा पाठकों को संप्रेषित करने का भी यही मक़सद था।

चित्र 3 : हमारी दाइयाँ



चाँद, दिसंबर 1924, 144-45 पृष्ठों के बीच.

निम्न जाति की दाईयों के (कु)चित्रण के साथ जाति का विमर्श और आधुनिकता, सभ्यता और संस्कृतीकरण का तर्क भी जुड़ गया। यह सत्ता और ज्ञान की बदलती हुई परिभाषाओं के साथ लिंग, जाति और वर्ग की श्रेणीबद्धता को मज़बूत करने की कोशिश थी। इसमें वर्चस्वशाली

---

[52] *सेंसस ऑफ़ इंडिया* (1911)', (1912) : 193; *सेंसस ऑफ़ इंडिया* (1921) (1923) : 87; एम. आई. बालफोर और रूथ यंग (1929) : 126.

[53] भवानीदयाल संन्यासी (1928) : 650-55.

जातियों द्वारा निर्मित, प्रचारित और आरोपित जटिल सामाजिक और सांस्कृतिक विश्वासों की भी भूमिका थी। इन चित्रणों की दलित स्त्रियों के पूर्व की छवियों से भी एक निरंतरता थी, पर अब इन्हें विज्ञान और संस्कृतीकरण की भाषा से ज़्यादा मज़बूती मिली।

औपनिवेशिक और सुधारवादी साहित्य में दाई की तीखी आलोचना के रास्ते प्रसव की दुनिया में, जहाँ अब तक दाई का ज़ोर था, अभिजात हस्तक्षेप को सही ठहराया गया। दोनों धाराओं में दाईयों में पेशेवरता की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया जिसके दो पहलू थे – एक तो निम्न जातीय परंपरागत पेशारत दाईयों को हाशिये पर डालना, और दूसरा देशी दाईयों को आधुनिक मानकीकृत तौर-तरीक़ों में प्रशिक्षित और अनुशासित करना।[54] भारत में 1885 में काउंटेस ऑफ़ डफ़रीन फ़ंड की स्थापना की गई, जिसका एक उद्देश्य अस्पतालों और घरों के लिए नर्सों और दाईयों को प्रशिक्षित करना था। उत्तर प्रदेश सरकार ने स्त्रियों और बच्चों की सुरक्षा के नाम पर कई नियम लागू किए जो काफ़ी विस्तृत थे।[55] उत्तर प्रदेश में 1933 में 'नर्सेज़, मिडवाइव्स, असिस्टेंट मिडवाइव्स ऐंड हेल्थ विज़िटर्स रेगुलेशन बिल' प्रस्तावित किया गया।[56] इस अधिनियम में 'दाई' का मतलब था, वह व्यक्ति जो मेडिकल काउंसिल द्वारा मान्यता प्राप्त हो या सरकार द्वारा पंजीकृत संस्था से दाई पेशे में डिप्लोमाधारी हो। उत्तर प्रदेश विधान सभा ने अंततः 20 फ़रवरी, 1934 को यह अधिनियम पारित कर दिया।[57]

नए राष्ट्रवादी हिंदू अभिजात वर्ग और सुधारकों ने ऐसी कार्यवाहियों का समर्थन किया और उसे अंगीकार भी किया। *स्त्री दर्पण* में छपे एक लेख 'अच्छी दाईयों की आवश्यकता' में दाई के पेशे में 'सम्मानीय', शिक्षित स्त्रियों, ख़ासकर 'अच्छे' परिवारों की विधवाओं के प्रवेश की ज़रूरत पर ज़ोर दिया गया।[58] लेख में यह भी कहा गया कि इन 'अच्छे' घरों की स्त्रियों को नगरपालिका, मेडिकल कॉलेज और सरकारी अस्पताल के ज़रिए, जिन्हें समुचित लाइसेंस मिला हो, बाज़ाब्ता औपचारिक प्रशिक्षण लेना चाहिए। ऑल इंडिया वीमेंस कॉन्फ्रेंस के 1934 के प्रस्ताव में सभी दाईयों के अनिवार्य पंजीकरण के लिए एक अधिनियम की माँग की गई।[59] बीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक कुछ शहरी मध्यवर्गीय परिवार पेशेवर स्त्री डॉक्टर और प्रशिक्षित दाईयों की सेवाएँ लेने लगे थे।[60] लेकिन यह मुख्यतः उत्तर प्रदेश के बड़े शहरों

---

[54] *रिव्यू : रिपोर्ट ऑफ़ द रॉयल कमिशन ऑन लेबर इन इंडिया*, (1931) : 54; एम. आई. बालफोर और रूथ यंग (1929) : 38; प्रताप सिंह (1936) : 330.

[55] फ़ाइल 68-69/1900, जून, मेडिकल, ए, होम डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

[56] फ़ाइल 25-26/1919, अक्टूबर, लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया, साथ ही देखें फ़ाइल 1248/19333, जुडीशियल, होम डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

[57] *प्रोसीडिंग्स ऑफ़ यू. पी. लेजिस्लेटिव काउंसिल* (1934), 20 फ़रवरी; फ़ाइल 124-II /1934, पब्लिकेशन, लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

[58] प्रसादीलाल झा (1923) : 476-78; बासुदेव शर्मा (1916) : 182.

[59] ए. आई. डब्ल्यू. सी (1934) : 150; गेराल्डिन फोर्ब्स (1994) : 169-71.

[60] गेराल्डिन फोर्ब्स (1994) : 169-71.

में केंद्रित था। एक अच्छी अंग्रेज़ी प्रशिक्षित प्रसव करवाने वाली नर्स को सरल प्रसव के लिए रोजाना 8 से 9 रुपये का शुल्क देना पड़ता था। इसके अलावा, अन्य ख़र्चे, जैसे धोबी और आवागमन इत्यादि भी होते थे। इसके अलावे प्रशिक्षित दाई प्रसव से पहले कई तरह की तैयारियों की माँग करती थी और वह एक पारंपरिक दाई की तरह कई प्रकार के घरेलू काम नहीं करती थी।[61] शहरी क्षेत्रों की ग़रीब स्त्रियाँ और महिला औद्योगिक मज़दूर भी देशी पारंपरिक दाई ही रखना चाहती थीं क्योंकि वे उनके तौर-तरीक़े समझती थीं और 'बहुत ज़्यादा स्वच्छता की भी चिंता नहीं करती थीं'।[62] दाईयाँ प्रशिक्षण और पंजीकरण की मुखर विरोधी थीं।[63]

साथ-ही-साथ, दाईयाँ प्रसव के लिए उनके श्रम पर निर्भरता के महत्त्व का अहसास करते हुए, अपने वजूद की आवाज़ भी उठाने लगीं – उन्होंने नग़द में भुगतान और अपनी सेवाओं के लिए फ़ीस की माँग उठाई।[64] दलित संगठनों और एसोसिएशनों ने दाईयों के सवाल पर दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। कुछ ने, ख़ासकर जिन्होंने आर्थिक बेहतरी हासिल कर ली थी, यह प्रस्ताव पारित किया कि उनकी स्त्रियाँ दाई का कमतर और निम्न चिन्हित काम करना बंद करें।[65] दाईयाँ नग़द भुगतान की माँग कर रही थीं, हर रोज़ 1.40 रुपये से कम नहीं तथा प्रसव के दौरान बच्चे की नाल काटने के लिए 5 रुपये से कम नहीं मिलना चाहिए। यह जानकारी भी मिलती है कि इस क्षेत्र में एक 'चमार' दाई ने प्रसव कराने से मना कर दिया, जब तक उसे 5 रुपये नहीं मिल जाते।[66] बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में राज्य के अन्य क्षेत्रों से भी ऐसी 'शिकायतें' मिल रही थीं कि जब तक चमार दाईयों को अच्छा भुगतान नहीं दिया जाए, उनकी प्रसव संबंधी सेवाएँ अब आसानी से उपलब्ध नहीं होती हैं। चमार स्त्रियों के लिए दाईगिरी तुलनात्मक रूप में शायद एक लाभकारी पेशा था और इस दौर में उनकी मज़दूरी में कुछ इज़ाफ़ा हुआ।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में प्रकाशित होने वाले उपदेशात्मक साहित्य की तर्ज़ पर इस दौर में दलित दाईयों की छवि को और भी मलिन किया गया। लेकिन साथ-ही-साथ दलित दाईयाँ एक सक्रिय किरदार भी थीं, जो तत्कालीन स्थिति का लाभ लेने की भी कोशिश कर रही थीं और इस दौर में आम तौर पर दलितों के विकसित हो रहे आंदोलनों और विरोधों से भी ताक़त अर्जित कर रही थीं। दलित दाईयों की निरंतर निंदा और निगरानी में मुश्किलें पड़ रही थीं।

[61] ई. एच. व्याट (1918) : 5-28.

[62] एम. आई. बालफोर (1932) : 12.

[63] *सेंसस* (1911) : 199; एम. आई. बालफोर और रूथ यंग (1929) : 130-35; एम. आई. बालफोर (1916): 19.

[64] जी. डब्ल्यू ब्रिग्स (1920) : 54, 65.

[65] *पुलिस आब्स्ट्रॅक्ट्स ऑफ़ इंटेलिजेंस*, पी. ए. आई, 9 अक्टूबर, (1926) : 544; पी. ए. आई. 20 मई (1922) : 880.

[66] पी. ए. आई, 7 अगस्त, (1926) : 417.

हिंदी प्रिंट, सवर्ण सुधारवादी और दलित स्त्री

अब तक हमने देखा कि उपदेशात्मक हिंदी लेखन में प्रायः दलित स्त्री की एक नकारात्मक छवि प्रस्तुत की गई — एक कुलटा और कुटनी के रूप में। लेकिन इसके साथ ही हिंदी सुधारवादी लेखन में दलित स्त्री की एक और छवि भी निर्मित की जा रही थी। यह पीड़िता, अधीनस्थ और अत्याचार बर्दाश्त करने वाली मौन छवि थी, जो सहानुभूति की पात्र थी।[67] सवर्ण सुधारवादी विमर्श, बिंब और भाषावली में वर्णित इस चित्रण में चुपचाप दुःख झेलने वाली दलित स्त्री छवि को आदर्श बनाया गया।

बीसवीं सदी की शुरुआत में गांधी और आंबेडकर जैसे अग्रणी व्यक्तियों के उदय के साथ-साथ, हिंदू सुधारवादी और राष्ट्रवादी लेखनों में जाति और ख़ासकर 'अछूतों' का वर्णन एक व्यापक विषय बन गया। इन लेखनों में आम तौर पर अछूतों को पुरुष के रूप में ही दिखाया गया। फिर भी, अछूत स्त्रियाँ कई-कई प्रकार से चित्रित होना शुरू हुईं। उपदेशात्मक नियमावलियों में जिस प्रकार सवर्ण और दलित स्त्रियों के बीच विभेद की जो गहरी खाई खींची जा रही थी, उससे कई सुधारवादी और राष्ट्रवादी असहमत हो रहे थे, क्योंकि वे 'अछूतों' को एक गर्वित हिंदू समुदाय और राष्ट्र के भीतर पुनर्वासित करने के गंभीर प्रयास भी कर रहे थे। साथ-ही-साथ धर्मांतरणों और दलितों के बढ़ते विरोध तथा जुझारूपन को लेकर भी चिंताएँ थीं। इन कई कारणों ने सवर्ण सुधारकों को सतर्कता और तत्परता के साथ जवाब देने के लिए मजबूर किया। इस संदर्भ में अछूत स्त्री का एक 'पीड़िता' के रूप में चित्रण विशेष रूप से उनके लिए काफ़ी संगत साबित हुआ।

प्रगतिशील, सवर्ण लेखन, जैसे प्रेमचंद की कहानियों में दलित स्त्रियों के लिए सहानुभूति जताने का प्रयास किया गया, जहाँ दलित स्त्रियाँ जातिगत शोषण, बेरोज़गारी, ग़रीबी, अपमान और बहिष्कार की शिकार बनकर उभरीं। पर सहानुभूति की भाषा और बिंब में अक्सर कई पूर्वधारणाएँ और विरोधाभास भी निहित थे। दलित स्त्रियाँ यहाँ आमतौर पर मूक शोषिता और 'अच्छी' आज्ञाकारिणी के रूप में नज़र आती थीं। उनकी जीवन स्थिति में 'सुधार' की भाषा आरोपित की गई थी। सुधारवादी विमर्श मौक़ा-ए-ज़मीन पर उभर रहे तनावों के संदर्भ में काफ़ी सीमित, विरोधाभासी और अस्पष्ट दीख रहे थे। जैसा कि मैंने पहले कहा, औपनिवेशिक भारत में अछूत की प्रायः एक पुरुष के रूप में अधिक कल्पना की गई।

सवर्ण और दलित : संबंध और खिंचाव

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के उत्तर प्रदेश में जातिगत असमानताएँ हिंदी लोकप्रिय लेखन – पुस्तिकाओं, पत्रिकाओं और समाचारपत्रों – में चर्चा का विषय बन गईं। अछूतों पर उपन्यास,

[67] उदाहरण के लिए: चाँद पत्रिका का 'अछूत अंक' (1927).

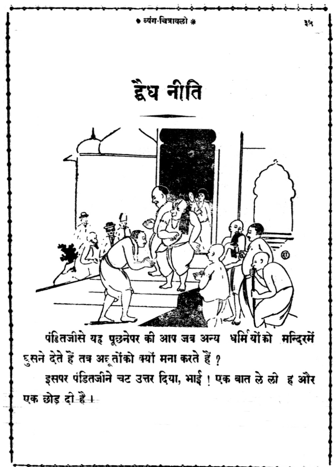
नाटक और कहानियाँ भी लिखी जाने लगीं।[68] विमर्श के कई मुद्दे थे – अछूत हमसे 'भिन्न' हैं या 'समान' हैं; उनसे सहानुभूति बरती जाए या उनका विरोध किया जाए; उन्हें रिझाया जाए या अपने से दूर किया जाए। इस विषय में सनातनी हिंदू पंडितों और आर्य समाज के बीच तीखे मतभेद थे : सनातनी हिंदू सवर्णों और दलितों में बुनियादी भेद बरतने के मुखर हिमायती थे, तो आर्य समाजी जाति विभेदों को पाटकर एक व्यापक हिंदू एकता पर ज़ोर दे रहे थे। पर दोनों धड़ों में एक मुद्दे पर अनायास ही सहमति बन रही थी : वह था धर्मांतरण का डर और कथित रूप से हिंदू संख्या में गिरावट की समझ। दोनों के ही विचारों में दलितों को लेकर कई असंगतियाँ भी थीं।

सवर्ण सुधारवादियों द्वारा खींची गई तस्वीरों ने दलितों के बारे में वर्चस्वशाली विचारों, मान्यताओं और प्रवृत्तियों को आकार देने में एक प्राथमिक भूमिका निभाई। यह एक प्रकार का अप्रत्यक्ष जातिवाद था लेकिन इस प्रकार के छवि निर्माण को केवल 'कपटी' और 'पाखंडी' कहकर ख़ारिज नहीं किया जा सकता है। इस चर्चा में अंतर्निहित चुनौती यह भी थी कि कैसे दलितों के चित्रण को प्रदूषित और लांछित से परिवर्तित करके एक पीड़ित हिंदू की छवि में ढाला जाए। यह एक प्रकार से 'अस्पृश्यता' को पुनर्भाषित करने की चुनौती भी थी। हिंदू सुधारवादी, विशेष तौर पर आर्य समाजी, इस दौर के दलित आंदोलनों और दावों के बरअक्स भी अभिव्यक्ति कर रहे थे, जिसने उन्हें एक मानवीय भाषा अपनाने के लिए मजबूर किया।[69] सुधारवादियों के इन प्रयासों को हिंदी साहित्य के एक उल्लेखनीय हिस्से से भी मदद मिली जो अपनी भाषा में लेखन करते हुए और अपनी सीमाओं में, आंशिक रूप से अछूतों के अतीत और पारंपरिक चित्रण पर सवाल उठा रहे थे। वे दलितों के प्रति क्रूरता और दमन की भर्त्सना कर रहे थे, जो प्रायः मौन स्वीकार्य और निर्विवाद रूप से चला आ रहा था (शिवकुमार शास्त्री 1916)। सुधारवादियों ने अछूतों के लिए सहानुभूति पैदा की और उन्हें अभिजात्य जातियों के सदियों के शोषण के शिकार के रूप में चित्रित किया। यह एक ऐसा मिलन बिंदु था जिस पर राष्ट्रवादी और हिंदू सवर्णों के धार्मिक-सामाजिक व्यवहारों की आलोचना करने वाले सुधारवादी, ख़ासकर आर्य समाजी, एक साथ खड़े होते थे। इस संदर्भ में सुधारवादियों के एक तबक़े द्वारा ब्राह्मणों पर सांस्कृतिक हमला बोला गया और ब्राह्मण पुजारी और पंडित को 'अछूत' के बरअक्स दुष्ट और बदमाश घोषित किया गया (आचार्य चतुरसेन, 1930)। (चित्र 4, 5, 6, 7)

[68] उदाहरण के लिए, ये उपन्यास देखें: पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', *बुधुआ की बेटी*; सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', *कुल्ली भाट* और *चतुरी चमार*; प्रेमचंद, *प्रेमाश्रम, रंगभूमि* और *गोदान*. इन पर चर्चा के लिए देखें: मेघवाल (1989); उपाध्याय (2002) : 51-79); इसके अलावा, कई लेखकों ने, जो इतने जाने-माने नहीं थे, 'अछूतों' पर निबंध और नाटक लिखे. उदाहरण के लिए देखें : आनंदी प्रसाद श्रीवास्तव (1928); रामेश्वरी प्रसाद 'राम' (1926); पुरुषोत्तम दास गौड़ 'कोमल' (1934); नंदलाल जायसवार 'वियोगी' (1943).

[69] रामनारायण रावत (2012) : 136-44.

चित्र 4 और 5

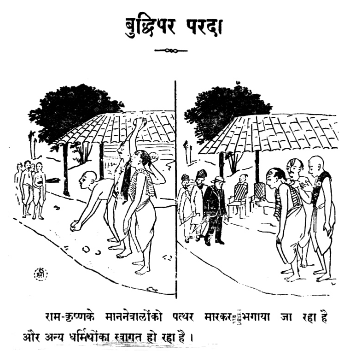




बैजनाथ केडिया, व्यंग चित्रावली, कलकत्ता : हिंदी पुस्तक एजेंसी, 1933 : 35; चाँद, मई 1927 : 77.

चित्र 6 और 7

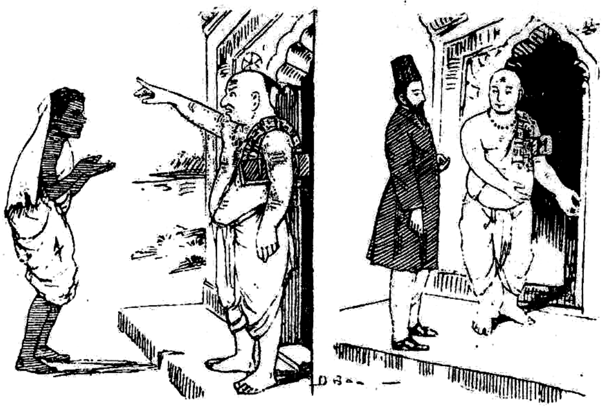




चाँद, मई 1927 : 133; केडिया, व्यंग चित्रावली : 33.

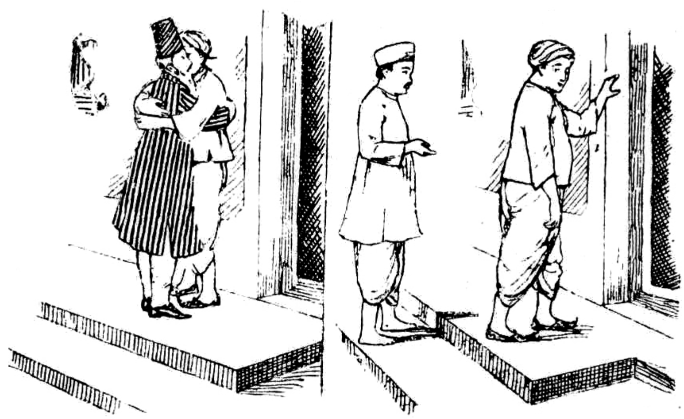
ब्राह्मण पुजारी पर पैरोडी और व्यंग्य को अक्सर एक अलग तरह की ऊँच-नीच की परिकल्पना के साथ जोड़ा गया जिसमें अछूतों को मुसलमानों की तुलना में बहुत बेहतर दिखाया गया। इस प्रकार ब्राह्मणों की विशेष रूप से इस बात के लिए आलोचना की गई कि वे मुसलमानों को मंदिरों और घरों में प्रवेश करने की अनुमति देते हैं, पर 'हमारे अपने अछूत' भाइयों को नकार देते हैं। (चित्र 8 और 9)

चित्र 8 और 9



शूद्रों के दर्शन करने से, प्रभु का होता है उपहास !
दूर-दूर चाण्डाल ! धर्म का, हो जावेगा सत्यानास !!

आवें मौलाना साहब, हाँ, जूता पहने ही आवें !
बड़े भाग्य हैं शिवजी के, जो चरणों के दरशन पावें !!



गले मिल रहे मुल्ला जी से, कहते हैं, रह दूर अछूत !
चढ़ा हुआ है हम पर कैसा, भारी भेद-भाव का भूत !!

चाँद, मई 1927 : 61; *व्यंग चित्रावली*, इलाहाबाद : 1930.

इसके साथ ही, सुधारवादियों और राष्ट्रवादियों ने अछूतों को अपने साथ लाने, उनका विश्वास हासिल करने और उन्हें 'सुधारने' के व्यापक और गंभीर प्रयास शुरू किए, जिसमें 'उनका ध्यान रखना, उन्हें सही रास्ता दिखाना और नियंत्रित करना', आदि शामिल थे। मंदिर प्रवेश, सह भोज, त्योहार, विवाह और कुएँ इसके लिए महत्त्वपूर्ण स्थल बन गए।[70] अग्रणी

---

[70] फ़ाइल एम-3, हिंदू *महासभा पेपर्स, जनरल करेस्पॉन्डेन्स*, नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम ऐंड लाइब्रेरी (एन एम एम एल); फ़ाइल 22, *बाबा रामचंद्र पेपर्स*, एन.एम. एम. एल; फ़ाइल 10/1922, *ए आई सी सी पेपर्स*, एन.एम. एम. एल; संपादकीय, 'पाप की ग्रंथियाँ', (1927) : 2-6; 'समाचार संग्रह' (1927) : 188-92; गंगा प्रसाद उपाध्याय (1916) : 38; दयाशंकर दुबे (1925):

आर्य समाजी स्वामी श्रद्धानंद ने हिंदू महासभा को प्रस्ताव दिया कि पिछड़े वर्गों को सामान्य सार्वजनिक कुओं से पानी खींचने की अनुमति दी जाए; सवर्ण हिंदुओं के समान अछूतों को सार्वजनिक पेयजल स्थलों से निःशुल्क पीने का पानी दिया जाए; अछूत जातियों के सभी सदस्यों को सार्वजनिक सभाओं और अन्य समारोहों में अन्य जातियों के साथ एक ही कालीन पर बैठने की अनुमति दी जाए; और अछूतों के बच्चों को सरकारी, राष्ट्रीय और धार्मिक शिक्षा संस्थानों में हिंदू और ग़ैर-हिंदू बच्चों की तरह आज़ादी से प्रवेश करने और अध्ययन के समय सबके साथ बैठने की सुविधा दी जाए।[71]

जून 1922 में बुलंदशहर में चमारों द्वारा आयोजित एक सहभोज में स्वामी विश्वानंद गए।[72] 1928 में होली के दौरान, आर्य समाज ने पीलीभीत में अछूतों की एक बैठक की और उपस्थित मेहतरों को मिठाई बाँटने का मौक़ा दिया।[73] अलीगढ़ और बनारस में होली के दौरान सार्वजनिक जुलूसों में अछूतों के भाग लेने की ख़बरें आईं।[74] मुरादाबाद में कुछ आर्य समाजियों ने चमारों को अपने कुओं से पानी खींचने की अनुमति दी और उनके बर्तनों से पानी भी पिया।[75] 1924 में इलाहाबाद में अर्ध कुंभ मेले के अवसर पर हिंदू महासभा कुछ भंगियों और डोमों को संगम में स्नान कराने ले गई और स्नान के बाद उनके फ़ोटो भी प्रसारित किए।[76] इस बात पर ज़ोर दिया गया कि सवर्ण कभी भी दलितों से घृणा नहीं कर सकते और यही कारण है कि उन्होंने 'दलितों के होली के त्योहार को पूरी तरह से अपनाया है'।[77] मुरादाबाद में होली के दौरान कॉन्ग्रेस सदस्यों ने चमारों के साथ चिलम लगाया।[78] दलितों को विशेष रूप से मुस्लिमों के बरअक्स लुभाने की कोशिशें हुईं। उदाहरण के लिए, पीलीभीत में स्थानीय आर्य समाजियों ने मेहतरों के विवाह समारोह में भाग लिया। उन्होंने भाषण दिया कि भंगी वास्तव में बाल्मीकि मुनि के वंशज थे जिन्हें मुसलमानों की विजय के बाद भंगी बनने के लिए मजबूर किया गया![79] सहारनपुर में 18 मई, 1923 को एक कुएँ में एक ढोल रखा गया और उसे 'चमारों के लिए हिंदू ढोल' का नाम दिया गया, जिससे मुसलमान नाराज़ हुए।[80]

सुधारवादी पत्रिकाओं ने कार्टून प्रकाशित किए, जिसमें दावा किया गया कि सवर्ण हिंदुओं और अछूतों के बीच सापेक्ष समानता हासिल की गई है। उदाहरण के लिए कैसे दोनों एक ही

146-53.

[71] जे. टी. एफ़. जॉर्डन (1981) : 137.

[72] (पी.ए. आई.), 1 जुलाई, (1922) : 1087.

[73] पी.ए.आई., 31 मार्च, (1928) : 124.

[74] 'सार्वजनिक जुलूसों में अछूत', *चाँद*, मई (1927): 189.

[75] पी.ए.आई., 21 अप्रैल, (1923) : 265.

[76] पी.ए.आई., 23 फ़रवरी, (1924) : 75.

[77] *चाँद* (1926) : 36.

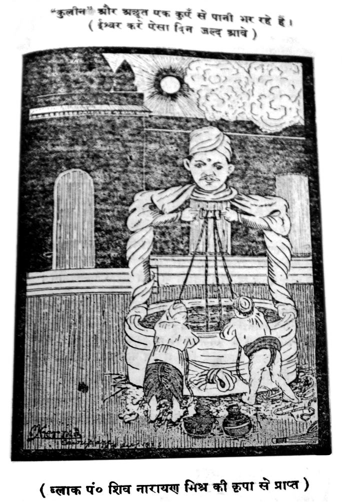
[78] पी.ए.आई., 25 मार्च, (1922) : 597.

[79] पी.ए.आई., 26 मई, (1928) : 193.

[80] पी.ए.आई., 26 मई, (1923) : 309.

चित्र 10 और 11





केडिया, *व्यंग चित्रावली* : 34 ; *स्त्री दर्पण,* अगस्त 1924 : 453.

नदी तट पर स्नान कर रहे हैं और साथ-साथ एक ही कुएँ से पानी खींच रहे हैं। (चित्र 10 और 11) सुधारवादी साहित्य में नए सार्वजनिक स्थलों जैसे रेलवे स्टेशन, प्लेटफ़ॉर्म, जेल, रेस्तराँ, संपादकीय कक्ष और प्रकाशन गृह को समानता लाने वाले महत्त्वपूर्ण पड़ाव के रूप में देखा गया, जहाँ ब्राह्मण और भंगी एक ही बेंच पर बैठते हैं और एक ही नल से पानी पीते हैं (चित्र 12)। जाति की दूरियों को पाटने के लिए सहभोज की भी प्रशंसा की गई (चित्र 13)।[81]

सभी हिंदुओं की समानता का दावा करते हुए एक लेख में कहा गया है कि विभिन्न वर्ण एक हाथ की पाँच उंगलियों की तरह हैं जिन्हें एक साथ मिलाकर कोई भी काम कुशलतापूर्वक कर सकते हैं।[82] एक और तर्क दिया गया :

> ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, गाय, भैंस और वृक्ष की तरह, कोई अलग-अलग जातियाँ नहीं हैं। इन प्राचीन संस्कृत नामों को यदि हम आजकल की भाषा में कहें, तो इनका नाम अध्यापक, सिपाही, व्यापारी और मज़दूर होगा। ये सब भाई हैं, एक ही जाति के हैं। इनको जाति-पाँति के छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर हिंदू-समाज का सत्यानाश न कीजिए।[83]

ऐसे विचारों और चित्रों में अस्पृश्यता की आलोचना तो की गई, लेकिन साथ ही कई प्रकार के व्यावसायिक भेद और दूरियाँ भी सायास बनाए रखी गईं। कई और अंतर्विरोध भी सामने आए। उदाहरण के लिए, दलितों के प्रति सहानुभूति की भाषा कृपा से भरी थी जिसमें दलितों को

[81] उदाहरण के लिए देखें : हीरालाल (1927) : 73.

[82] *अभ्युदय*, 21 नवंबर, (1925) : 6.

[83] संतराम (1927) : 222.

चित्र 12 और 13

पानीकी प्यास



गाड़ी छूटनेमें दो मिनटकी देरी है, पंडितजी और घिसुवा साथ-ही-साथ नलसे पानी ले रहे हैं।



इस अङ्क के प्रधान सम्पादक श्री० पं० नन्दकिशोर जी तिवारी, बी० ए०; जो सरयूपारीण ब्राह्मण हैं, स्वयं बंशीलाल कोरी (चमार) के साथ; जो प्रेस के हिन्दी-विभाग का कम्पोज़िटर है, भोजन कर रहे हैं।

केडिया, *व्यंग चित्रावली*: 34 ; *चाँद,* मई 1927: कवर के पीछे की तस्वीर.

प्रदूषित, मलिन और मूल्यविहीन के रूप में दिखाया गया। *चाँद* पत्रिका में लिखा गया :

> शताब्दियों के निरंतर अभ्यास ने उनमें [अछूतों में] – स्त्री-पुरुष दोनों में बहुत से ऐसे बुरे स्वभाव उत्पन्न कर दिए हैं, जिनके कारण शिष्ट-मंडल के अनेक सभ्य उनके प्रति एकांत सहानुभूति रखते हुए भी उनसे निःसंकोच संसर्ग रखने में संकोच का बोध करते हैं।... उदाहरण के लिए हम एक ही बात पाठक-पाठिकाओं के सम्मुख समुपस्थित करते हैं। वह है व्यक्तिगत स्वच्छता की ओर से उनकी एकांत उदासीनता। वे महीनों तक स्नान नहीं करते हैं; उनके

> केश-वन जुओं के विहार-स्थल होते हैं। उनके वस्त्र संचित मैल के कोष होते हैं और उनके दाँतों पर तो कदाचित आध-इंच मोटी मैल जमी रहती है। गंदगी उनकी नस-नस में प्रवृष्ट हो गई है; यों कहिए कि अस्वच्छता को उन्होंने अपनी चिर-सहचरी बना लिया है।[84]

साथ-ही-साथ, इसमें सवर्ण जातियों के वर्चस्व की सोच भी निहित थी जो कई संवेदनशील मुद्दों पर लागू होती थी। सवर्ण जातियों की सामाजिक प्रथाओं और व्यवहारों के 'विशिष्ट गुणों' पर ज़ोर देते हुए कहा गया कि अछूतों को उन्हें समझना और अपनाना चाहिए। सुधारवादियों का मानना था कि अछूत उच्चतर सभ्यता और संस्कृति में तभी प्रवेश कर सकते हैं जब उन्हें कुछ 'बुराइयों' से मुक्त कराया जाए और कुछ ख़ास सवर्ण तौर-तरीक़ों में ढाला जाए। जैसे, उन्हें गोमांस खाने और मदिरा सेवन से रोका जाए, उन्हें शाकाहारी बनाया जाए, उन्हें स्वच्छता, स्वास्थ्य और परिष्कृत धार्मिक व्यवहारों में प्रशिक्षित किया जाए।[85]

प्रदूषण और अस्पृश्यता से मुक्ति दिलाने के विमर्श में स्वच्छता एक प्रमुख मानदंड बन गया।[86] स्वच्छता और स्वास्थ्य को प्रायः उच्च-जाति और मध्यम-वर्ग के मूल्यों के प्रतीक के रूप में देखा गया, और उन्हें आक्रामक रूप से निचली जातियों के लिए परोसा गया, जिसमें दलितों के सामने प्रस्तुत गहरी संरचनात्मक, पेशागत और भौतिक बाधाओं की कोई आलोचना नहीं होती थी। हिंदू महासभा ने उच्च जातियों को निचली जातियों को मुफ़्त साबुन वितरित करने और उपहार देने का आग्रह किया।[87] एक सुधारक ने कहा :

> जो साफ़ व सुथरे हो तो होगी किसे घृणा।
> ख़ुश्बू से महक जाएगी तेरी दिशा दसों।।[88]

हरिजन सेवक संघ द्वारा प्रकाशित एक कविता में दलितों के खान-पान और मद्य सेवन की आदतों में बदलाव की ज़ोरदार हिमायत की गई :

> मांस खाना बिल्कुल छोड़ो, इसमें सब कल्याण है।
> गौ न बेचो हाथ कसाई, यही धर्म सिखलाता है।
> शराब पीना हराम समझो, ताड़ी-ताड़ कटाना है,
> भांग-चरस की बिक्री रोको, इनसे तो बच जाना है।

---

84 संपादकीय, 'शिक्षा और कुसंस्कार' (1927) : 11-12.

85 देखें *चाँद*, जनवरी (1932) : 387; *अभ्युदय*, 21 नवंबर, (1925) : 5; *द इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 28 जनवरी, (1933): 341.

86 'हिंदू समाज की उन्नति के साधन', *चाँद*, अगस्त (1926) : 386-7; 'दलितोद्धार सम्मेलन', *चाँद*, मार्च, (1930) : 874-5; 'समाज सुधार', *सुधा*, जनवरी (1930): 699-707.

87 फ़ाइल 52/1939, *बी. एस. मूंजे पेपर्स जनरल करेस्पॉन्डेन्स*, एन. एम. एम.एल.

88 प्रसाद सिंह संत (1933) : 10.

हुक्के कि अब रसम मिटा दो, गर हिंदू कहलाना है।[89]

इस क्षेत्र में सुधारवादियों की उपलब्धियों का गौरव गान करते हुए कहा गया :

> पिछड़े वर्ग देखेंगे कि वे अब एक ऐसे ऐतिहासिक दौर से गुज़र रहे हैं, जब वे हिंदू रीति-रिवाजों को समझ और अपना रहे हैं।... वे लोग अब स्नान करते हैं, साफ़ कपड़े पहनते हैं और धार्मिक भक्ति के प्रतीक चिह्न पहनते हैं, और यह सब परिष्कृत हिंदू धर्म के प्रभावों का परिणाम है।[90]

स्वच्छता, पवित्रता, और अछूतों की खान-पान की आदतों में 'सुधार' पर ज़ोर ने उच्च जातियों की सत्ता और आधिपत्य को सही ठहराने में मदद की। साथ ही, इससे अछूतों को धार्मिक और सामाजिक पवित्रता के विमर्श में शामिल किया गया। ऊँची जाति के मानदंड निर्विवाद मानकों की तरह थे जिसके सामने निचली जातियों को मापा जाना था। इसलिए सहानुभूति का पात्र होते हुए भी सुधारवादियों की दृष्टि में दलित केवल एक 'अंतरीय समानता' और अधिकारों के हक़दार हो सकते थे।[91] यह वर्चस्वशाली संस्कृति के साझा अवचेतन में दलितों के प्रति गहरे पूर्वाग्रह दर्शाता था (ज्ञानेंद्र पांडे, 2013)। अपने तमाम प्रगतिवाद के बावजूद, उदारवादी सुधारक अपने पूर्वाग्रहों को देखने में विफल रहे, जो उनके सवर्ण मूल्यों की सर्वव्यापकता का सूचक थे। सनातनधर्मियों ने इसे और अधिक धमाके से रखा। सनातनधर्मी दामोदर शास्त्री ने *चाँद* में अपने एक लेख में तर्क दिया कि जिन लोगों को अछूत कहा जाता है, वह इसलिए कि वे हमारे घरों को साफ़ रखते हैं, वे अपने 'निजी रहन-सहन को सदा गंदा बनाए रखते हैं'।[92] सहानुभूति से लबलबाते हुए वैचारिक दायरे के ढाँचे में एक और काँटेदार सवाल यह था कि जाति की शुद्धता को कैसे बनाए रखा जाए।[93] एक वक्तव्य देखिए :

> छुआछूत की मर्यादा वहाँ तक स्थित करनी चाहिए कि जिससे हिंदू समुदाय को कोई हानि न पहुँचे। यह बात स्वयं सिद्ध है कि हम पवित्र और उच्च वर्ण के हिंदू, डोम, चमार आदि अपवित्र जातियों के हाथ का भोजन नहीं कर सकते व उससे घृणा पैदा होना स्वाभाविक है।[94]

यद्यपि सुधारकों ने दलितों के लिए कुछ जगह बनाई, पर इससे अंतर्निहित तनाव दूर नहीं किए जा सके। कई प्रकार के द्वंद्व और विवाद सामने आते रहे।[95] 1938 में कुओं के उपयोग

---

[89] सुखनंदन प्रसाद दुबे (1933) : कवर.

[90] द *इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 16 नवंबर, (1935) : 169.

[91] सुमित सरकार (1997) : 368-9.

[92] दामोदर शास्त्री (1928) : 572-8; गोपाल दामोदर तामस्कर (1934) : 440-6.

[93] राय बहादुर लाला बैजनाथ (1905) : 45.

[94] कृष्णानंद (1922) : 156.

[95] 25/मई (1923), होम पॉलिटिकल, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया (एन ए आई); पी ए आई , 21 अप्रैल, (1923) : 265; पी. ए. आई, 5 में (1923) : 279; *अभ्युदय,* 20 मार्च, (1926): 5; द *इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर,* 22 अगस्त, (1925).

को लेकर दलितों और सवर्णों के बीच बिजनौर में दंगे हुए।[96] आगरा ज़िले के एक गाँव में एक अछूत ने हलवाई की दुकान से कुछ पूड़ी ख़रीदी और उन्हें दुकान पर ही खाने लगा। हलवाई ने उसकी पिटाई करते हुए कहा कि उसे दुकान के बाहर सड़क के किनारे नाले के पास पूड़ी खानी चाहिए थी।[97] होली का त्योहार, जिसे प्रायः अछूतों के साथ सामंजस्य स्थापित करने के अवसर के रूप में देखा जाता था, मतभेद का कारण बन गया। उदाहरण के लिए, 11 मार्च, 1922 को होली मनाने के लिए मथुरा में मेहतरों ने एक जुलूस निकाला पर उसे शहर में प्रवेश नहीं करने दिया गया और उन पर हमला किया गया। कहा गया कि 'मेहतरों' ने मिठाइयों की दुकानों को अशुद्ध करने की योजना बनाई थी।[98] जब डॉ. बाबू राम ने होली के दौरान एक सभा में मेरठ के लोगों से अछूत जातियों के पुरुषों को गले लगाने का आग्रह किया, तो कई हिंदू जल्दबाज़ी में बैठक से बाहर चले गए और जल्द ही सभा पूरी तरह से टूट गई।[99] वर्णाश्रम सुधार सभा ने यह प्रस्ताव पारित किया कि कोई ब्राह्मण निम्न जाति के लोगों का जनेऊ संस्कार नहीं करेगा।[100] जब मेसुरियादन पासी ने इलाहाबाद में जनेऊ पहनने का फ़ैसला किया तो ब्राह्मणों ने उन पर और दो अन्य पासियों पर शारीरिक हमला किया।[101] बनारस के पंडितों ने पिछड़े वर्गों द्वारा वेदों के पढ़ने पर कड़ी आपत्ति जताई।[102] जब धर्मांतरित सवर्ण हिंदुओं को वापस लाने की कोशिशें हुईं, तो प्रायः जाति विभिन्नता का तर्क पेश किया गया।[103] सनातन धर्म के प्रचारकों ने विशेष रूप से तर्क दिया :

> छुआछूत पवित्रता का द्योतक है, घृणा का नहीं।... हमें दलितों को उठाना है किंतु इसका मतलब यह कदापि न होना चाहिए कि दलितोद्धार का ढोल पीटकर उनके साथ सहभोज किया जाए, उन्हें जनेऊ पहनाया जाए, उनका रोटी-बेटी से संबंध किया जाए। अन्त्यजों से उन्हीं का पेशा कराने में हमारा कल्याण है।[104]

उच्च जातियों की श्रेष्ठता और शुद्धता के मिथकों का उपयोग लगातार दलितों की संसाधनों और स्थानों तक पहुँच को सीमित करने के लिए किया गया। इस तरह से सम्मति और सहानुभूति के वैचारिक फ्रेम के अंतर्गत ही अंतर और वैमनस्य की भाषा बसी हुई थी। इस तरह के विरोधाभास कुछ अन्य लक्षणों के साथ दलित स्त्रियों के प्रति सवर्ण सुधारवादी नज़रिए और उन पर लेखन में भी व्यक्त हुए, जिसकी चर्चा मैं अगले हिस्से में करूँगी।

---

[96] एमएसएस यूरो. ई 251/1, हैलेट कलेक्शन, इंडिया ऑफ़िस रिकॉर्ड्स, ब्रिटिश लाइब्रेरी.

[97] मुकुल बिहारी वर्मा (1971) : 11.

[98] पी.ए.आई., 18 मार्च, (1922) : 350; पाई, 25 मार्च, (1922) : 597.

[99] पी.ए.आई., 10 मार्च, (1923) : 155.

[100] पी.ए.आई., 10 जून (1922) : 967.

[101] संपादकीय, चाँद, अगस्त (1934) : 450.

[102] पी.ए.आई., 5 मई, (1928) : 165; गणपत राय के साथ साक्षात्कार, ओरल हिस्टरी ट्राँस्क्रिप्ट : 28-9, एन एम.एम. एल; पी.ए. आई., 15 सितंबर (1923) : 483.

[103] फ़ाइल 42/1935, *बी.एस. मुंजे पेपर्स*, एन.एम.एम. एल; 66/बी/1924, होमे पोल; शर्मा (1983) : 70-77.

[104] लज्जाराम (1928) : 704.

संवेदना, सहानुभूति और सहकारिता का स्वांग

> यह रात-दिन के उपवास की कहानी है; यह उन माताओं की कहानी है, जो अपने प्राण-प्रिय बच्चों की लाश अपनी टूटी झोपड़ी में छोड़ कर नर-पिशाच ज़मीदारों और तालुक़ेदारों की बेगार करने जाती हैं; यह उन पत्नियों की कहानी है, जो अपने सर्वस्व, अपने पतिदेव तथा अपने जीवन-धन को मृत्यु-शय्या पर छोड़, अत्याचार की नंगी तलवार के सम्मुख अपना शीश झुका कर बेगार करने जाती हैं; यह उन बहिनों की कहानी है, जो अपने माता-पिता और भाइयों के सम्मुख रात-दिन अत्याचारियों की काम-वासना का शिकार होती हैं; ... यह सतीत्व के नष्ट किए जाने की भयानक कहानी है;... यह हिंदू धर्म एवं हिंदू समाज के लोमहर्षक नाश की करुण कहानी है और साथ ही भारतवर्ष में यह ईसाई तथा इस्लाम धर्म के विकास की भी कहानी है; *यह मूक अश्रुपात, अव्यक्त रोदन तथा गूँगे कष्टों की मर्मभेदी कहानी है*...। (इटैलिक मेरा)[105]

जब सवर्ण सुधारवादी लेखन के एक बड़े हिस्से में दलित स्त्री पीड़िता और दुखी व्यक्तित्व के रूप में चित्रित की जाने लगी तो एक नई अवधारणा के इर्द-गिर्द अछूत स्त्रियों के उत्पीड़न की यादें सँजोयी गईं।[106] वहाँ पीड़ा और पीड़िता की भाषा में एक प्रकार की संवेदना और करुणा की भावना थी, जिसमें दलित देह पर बरते जाने वाले दर्द को लेकर एक नया संकोच, विक्षोभ, नफ़रत और विकर्षण प्रदर्शित किया गया। इस तरह की बयानबाज़ी कई मायनों में उस समय की ऐतिहासिक ज़रूरत थी। जिस शोषण पर पहले सवाल नहीं उठाया जाता था, उसकी सुधारवादियों ने अब तीव्र निंदा शुरू की। ऐसे लेखन में सवर्ण हिंदुओं का अनुनय-विनय करते हुए, और उनके 'सहज' और 'आंतरिक' गुणों को उभारते हुए, उनसे भावनात्मक अपील की गई कि वे अछूतों के प्रति एक 'नरम' और सहानुभूतिपूर्ण नज़रिया अपनाएँ।

इस तरह के लेखन के साथ कभी-कभी कार्टून भी शामिल किए गए जो अछूत पुरुष और स्त्री की दयनीय वेदना बताते थे। मंदिरों और कुओं जैसे सार्वजनिक स्थल, जिनके इर्द-गिर्द कुछ महत्त्वपूर्ण संघर्ष हो रहे थे, विशेष रूप से दलित स्त्रियों के साथ नज़दीकी संपर्क की जगहों के रूप में देखे गए, क्योंकि स्त्रियाँ ही ज़्यादातर कुएँ से पानी लाती थीं (चित्र 14 और 15)।

सवर्णों, विशेषकर ब्राह्मणों के ख़िलाफ़ नाराज़गी की भावना जताते हुए, ऐसी छवियों ने जातिगत क्रूरता का मार्मिक चित्रण किया, और दया तथा सहानुभूति के प्रदर्शन की एक नई सांस्कृतिक भाषावली प्रचलित की (चित्र 16)।

इन छवियों में बसी थी चुपचाप, निष्क्रिय रूप से यातना झेलने वाली अछूत स्त्री दासी, जो केवल अपनी शारीरिक भाव-भंगिमाओं और संकेतों से अपनी भावनाएँ और दयनीय स्थिति ज़ाहिर करती थी, लेकिन जो प्रतिकार और विरोध की भाषावली से दूर थी। इस प्रकार इन छवियों में दलित स्त्रियों को मूक धीरज के रूपक में दिखाया गया। इसके साथ ही, दलितों के व्यापक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संघर्ष को एक 'घरेलू त्रासदी' और 'अंदरूनी

---

[105] संपादकीय, 'पाप की ग्रंथियाँ' (1927) : 5.

[106] सनल मोहन (2011) : 537.

चित्र 14 और 15





केडिया, *व्यंग चित्रावली* : 32 ; *व्यंग चित्रावली*, इलाहाबाद: चाँद कार्यालय: 1930.

चित्र 16



चाँद, मई 1927 : 40

पीड़ा' बना दिया गया, जिसे हिंदू धर्म की कुछ बुराइयों से निजात हासिल करके समाप्त किया जा सकता है। कई मायनों में, भावुकता के इस सामाजिक उछाल ने जातिगत प्रश्न और दलित जीवन की भौतिक वास्तविकताओं के साथ राजनीतिक सरोकार जोड़ने के सवाल को हाशिये पर धकेल दिया। जैसे की वेंडी ब्राउन कहती हैं :

> जब पीड़ा को एक व्यक्तिगत अनुभूति की समस्या के रूप में सीमित कर दिया जाता है, तो राजनीतिक संघर्ष और राजनीतिक परिवर्तन के क्षेत्र की जगह व्यवहार, प्रवृत्ति और भावनात्मक क्रियाकलापों का एजेंडा हावी हो जाता है।[107]

कुरूपता से विनीतता : शूर्पणखा से शबरी तक

इस तरह की भावुक राजनीति के साथ अक्सर एक प्रकार की रूमानियत भी जुड़ी हुई थी। इसीलिए सुधारकों ने दलितों के प्रति एक पितृसुलभ और संरक्षणवादी रवैया अपनाया। यह तर्क दिया गया कि हिंदू समुदाय अछूतों के कारण ही शक्तिशाली है, क्योंकि वही सवर्ण हिंदुओं को सेठ-साहिब, बाबू-साहिब और माई-बाप कहकर संबोधित करते हैं। भले ही अछूतों को हिंदू समुदाय के साथ घोषित किया गया, लेकिन कई सुधारक उन्हें समाज के 'पैर' के रूप में ही मानते थे।[108] सवर्णों की सेवा करना अछूतों के 'स्वाभाविक' और 'प्राकृतिक' गुण के रूप में देखा गया और यह सबसे अधिक व्यावहारिक और अच्छी तरह से शबरी की एक सेविका और समर्पित व्यक्तित्व की छवि द्वारा दर्शाया गया। फिलिप लुटजेंडोर्फ़ ने शबरी के चित्रण के बारे में कहा है कि 'भीलनी के बेर' एक ऐसे सप्रेम, विनीत और लौकिक अर्पण का प्रतीक है जो भगवान को प्रसन्न करता है। यह एक अत्यंत भावनात्मक झाँकी की तरह है जो प्रायः लोकप्रिय धार्मिक कलाकृतियों में व्यक्त होती है।'[109] लुटजेंडोर्फ़ यह भी दिखाते हैं कि शबरी प्रसंग की आधुनिक विवेचनाएँ आमतौर पर रूढ़िवादी या सुधारवादी हिंदू आग्रहों से प्रभावित हैं, जिनके बीच एक प्रकार का तनाव दिखता है :

> ज़्यादा लोकप्रिय और उदारवादी तथा ज़्यादा अभिजात और संकीर्ण धाराओं के बीच; सामूहिक भक्ति के मीठे, 'रसपूर्ण' और उत्साही प्रशंसकों तथा समतावादी आवेगों को अप्राप्य और अपचनीय मानने वाले खट्टे नज़रियों के बीच।[110]

इस विश्लेषण से सहमत होते हुए मैं इस तर्क को और आगे बढ़ाना चाहती हूँ कि कैसे शबरी के मानवीय चित्रण में भी कुछ असंगतियाँ थीं, जिनमें सुधारवादी रुझानों की गाँठें नज़र

[107] वेंडी ब्राउन (2006) : 16.

[108] हज़ारीलाल जैन (1931) : 62-66.

[109] फिलिप लुटगेंडॉर्फ (2001) : 120.

[110] वही : 120.

आती हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सवर्ण सुधारवादी साहित्य के एक हिस्से में कुटिल शूर्पणखा की पिछली छवि हाशिए पर चली गई और उसकी जगह शबरी की छवि ने ले ली, जिसे निम्न जाति की स्त्री का एक 'आदर्श' प्रतीक माना गया। इस निष्काम, निःस्वार्थ भक्ति और सेवा की मूर्ति का अनुसरण और अनुकरण करने के लिए अनुरोध किया गया। एक सुधारवादी कविता में शबरी के आदर्श की इस प्रकार चर्चा की गई :

> बेर शबरी के भक्ति भील की भूली कैसे।
> राम के भक्तों से क्या आपने व्यवहार किया।।[111]

खान-पान और सहभोज की वर्जनाओं और पूर्वाग्रहों की काट के लिए शबरी की छवि विशेष रूप से उपयोगी थी, क्योंकि शबरी और राम दोनों ने एक ही खाना साझा किया था। पर साथ ही, खान-पान की इस साझेदारी में पदानुक्रम और भेद-विभेद बरक़रार था। शबरी एक निम्न जाति की स्त्री का प्रतिनिधित्व करती थी जो ईश्वर की सेवा और पूजा करती है, जिसमें प्रकारांतर में सभी सवर्णों की चुपचाप, विनम्रतापूर्वक और निःसंकोच सेवा करने का संदेश निहित था। शबरी के गुणी और श्रद्धालु व्यक्तित्व में अतिशय भावुकता थी। उसके चरित्र ने एक निष्ठुर नैतिकता को उकसाया, जिसमें यह घोषित किया गया कि उसके जैसे अछूतों को प्यार करना भगवान को प्यार करने जैसा है। उसकी जैसी प्रेममय अछूत एक अनुरागी ईश्वर की तरह है।[112] यह भी कहा गया :

> रामचंद्र जी ने भीलनी के बेर खाए, कृष्णचंद्र जी ने कुब्जा से प्रीति जोड़ी। रामायण और महाभागवत पढ़ने से ज्ञात होगा कि जो तिरस्कार अछूत जातियों का अब है, वह पहले कदापि नहीं था। यह सब आधुनिक लीला है।[113]

बाह्य रूप से प्रदूषित होने के बावजूद, शबरी को आंतरिक रूप से शुद्ध और पवित्र दर्शाया गया। सवर्ण जातियों को धिक्कारते हुए, उनसे दलित स्त्रियों के साथ मानवीय व्यवहार करने की अपील की गई। शबरी के प्रति राम का व्यवहार एक संदर्भ बिंदु बन गया, और सवर्णों को उनके समान व्यवहार करने का सुझाव दिया गया।[114] एक कविता के अनुसार :

> शबरी कर से खाए प्रभु ने, वन में झूठे बेर,
> 'गंगा' कवि क्यों पड़ा तुम्हारी, मति में अब है फेर।[115]

[111] प्रसाद सिंह संत (1933) : 4.

[112] 'अछूतोद्धार', *सुधा*, फ़रवरी (1931) : 33-40.

[113] लाला कन्नोमल (1927) : 55.

[114] चंडीप्रसाद (1927) : 552-62.

[115] सुखनंदन प्रसाद दुबे (1933) : 5.

राम की इस उदारशीलता में निम्न जाति की स्त्री के प्रति एक विनीतता और अनुग्रह का भाव था। चाँद द्वारा प्रकाशित 'अछूत अंक' के पहले पृष्ठ के पीछे छपी एक तस्वीर ने इसे प्रभावी ढंग से उभारा (चित्र 17)।

शबरी को स्वीकार करना और पसंद करना ज़रूरी था, क्योंकि यह दावा किया गया कि उसके माध्यम से राम का क़द और ऊँचा होता है। इस प्रकार अपने उत्कर्ष के लिए दलितों को गले लगाना ज़रूरी था। दलित स्त्री अब पापी और 'कुलटा' नहीं थी, बल्कि वह एक धर्मपरायण स्त्री थी, जिसके ज़रिए सवर्णों को स्वर्ग पहुँचना था।[116] ऐसे कई चित्रणों में दलित स्त्रियों को सवर्णों पर आश्रित और कमज़ोर दिखाया गया। उनके प्रति एक संरक्षणवादी, अधिकारवादी और पितृसत्तात्मक रवैया था। वह कृतज्ञता, अहसान और विनम्रता से भरी हुई थी, और कई बार उसे ऊपर उठाने के लिए ऊँची जाति को अपने को नीचे गिराना पड़ता था।[117]

शबरी की छवि इस समय के सुधारवादी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण पहचान थी जिसमें सहानुभूति के साथ अधीनता का संयोग था। शबरी आध्यात्मिक अखंडता, श्रद्धा, तपस्या और हार्दिक भक्ति का एक प्रतीक बनकर उभरी, जो हिंदू ढाँचे के अंतर्गत ही साकार होती थी। शबरी ने हिंदू सुधारकों को एक भावनात्मक और व्यक्तिगत शब्दावली मुहैया कराई जिसमें जातिगत असमानताओं के संरचनात्मक, राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे को अनदेखा किया जा सकता था। पीड़ा और सहानुभूति की भाषा और शब्द दलितों को नियमित और संचालित करने के एक माध्यम भी थे। सवर्ण सुधारकों के लिए शबरी दलित स्त्री की सबसे प्रामाणिक प्रतिनिधि, चौखटा और चिह्न बन गई।

उत्पीड़न की सीमा रेखाएँ : ज़मीनी तनाव और अंतर्जातीय विवाह

अछूत स्त्रियों के प्रति भावुक सहानुभूति की कई दुविधाएँ थीं। दलित स्त्रियों के दुखद और यातना भरे चित्रण से उनकी एक दानपात्र जैसी छवि तैयार हुई, जिनके उत्थान के लिए उदार सवर्णों के परोपकारी हस्तक्षेप की ज़रूरत थी। सवर्ण और आर्य समाजी स्त्रियों को यह नेतृत्वकारी ज़िम्मेदारी सौंपी गई कि वे अछूत स्त्रियों में सुधार प्रेरित करें और उनमें स्वच्छता, सफ़ाई और अच्छाई के ऐसे तत्व और मूल्य विकसित करें जिससे वे 'सवर्णों के सान्निध्य' के क़ाबिल हो सकें :

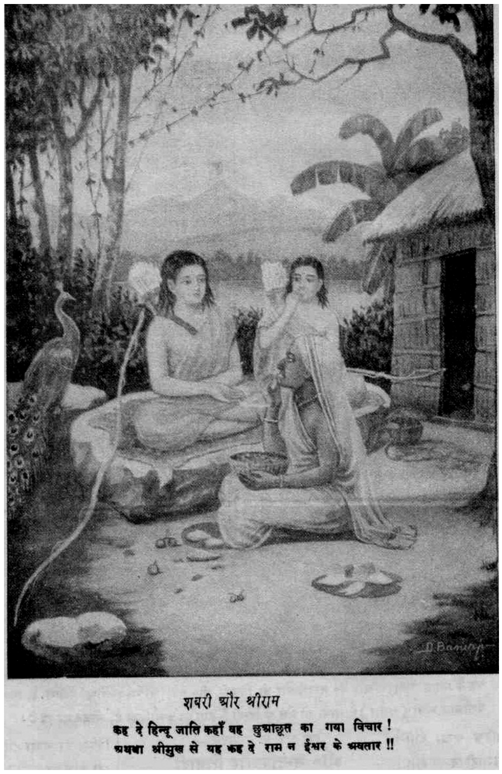
> ...यह एकांत रूप से आवश्यक है कि अछूत-नारियों के इस पुनरुद्धार के पवित्र प्रयास में हमारी उच्च जाति की बहिनें पूर्ण रूप से सहयोग एवं सहायता प्रदान करें।... सबसे पहले हमारी उच्च

---

[116] रामचरित उपाध्याय (1927) : 75.

[117] शोभाराम 'धेनु-सेवक'(1927) : 15.

चित्र 17



चाँद, मई 1927: आवरण पृष्ठ अंदर.

> जाति की बहिनों को उसे वहाँ से हाथ पकड़ कर, अपने हाथ का अवलंबन देकर उठाना होगा; उसके शरीर में जो धूल लग गई है, उसके रोम-रोम में अस्वच्छता एवं मलिनता का जो प्रवेश हो गया है, उसे अपनी सहानुभूति और संवेदना की पुण्य धाराओं से प्रक्षालन करना होगा।... अछूत देवी का पुनः संस्कार उच्च जाति की देवियों से ही हो सकता है![118]

स्त्री दर्पण ने सवर्ण जाति की हिंदू स्त्रियों की अछूत स्त्रियों के सुधार और शिक्षित करने के प्रयासों की सराहना की।[119] आगरा में 26 मार्च, 1928 को अछूत स्त्रियों की एक बैठक हुई , जिसमें आर्य समाज की स्त्रियों ने स्वच्छता और शिक्षा पर भाषण दिए।[120] आर्य समाज ने अछूत स्त्रियों के बीच काम के लिए मेरठ में पुष्पा देवी, विष्णु देवी और शकुंतला देवी जैसी सवर्ण जाति की स्त्रियों की भूमिका की सराहना की (गंगा प्रसाद उपाध्याय,

---

[118] 'अछूत नारी का समुद्धार' (1927) : 178-79.

[119] 'नीच जातियाँ', *स्त्री दर्पण,* नवंबर (1919) : 273-4.

[120] पी.ए.आई., 21 अप्रैल l, (1928) : 135.

1930)। 'हम' (सवर्ण स्त्री सुधारकों) की इस बुनावट में 'वे' (दलित स्त्रियों) का भाव था, जो सवर्णों के विशेषाधिकार की शर्तों को दोहराता था। सहानुभूति की वैचारिकता और शब्दावली के बावजूद स्त्रीत्व का मॉडल उच्च जाति के फ्रेम में ही सीमित रहा और इसने ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक नैतिकता और संहिता को मजबूत ही किया। इस संदर्भ में ही इतिहासकार उमा चक्रवर्ती का कहना है कि दलित स्त्रियों को सवर्णों के नज़रिए से ही आँका गया।[121] सांप्रदायिकता के उभार के साथ, दलित स्त्रियों को मुसलमानों पर तरजीह दी गई (चंद करण शारदा, 1925)। इस तरह के संकेतों और भाषा की ख़ासकर मध्यम वर्गों में व्यापक अपील थी, क्योंकि वे बिना किसी आमूल परिवर्तन के, ऊपर से आरोपित कुछ सुधार लाना चाहते थे। इससे व्यापक हिंदू एकता के तर्क को भी मदद मिलती थी। इन प्रतीकात्मक मुद्राओं से जाति, कामुकता और पितृसत्ता के बीच के गहरे संबंधों की पड़ताल पीछे छूट गई।

सुधारवादी अलंकारों में कई अन्य ज़मीनी तनाव और दबाव भी थे, जो सतह पर उभरते रहते थे। उदाहरण के लिए, आगरा में एक हिंदू स्त्री का एक अछूत स्त्री के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए बहिष्कार किया गया।[122] कानपुर के एक नगर निगम के स्कूल में एक मेहतर की बेटी का दाख़िला हुआ। इसने एक सनसनी पैदा कर दी और कई अभिभावकों ने अपनी बेटियों को स्कूल से निकाल लिया। इसके बाद स्कूल में हरिजन लड़कियों के दाख़िले पर एक प्रकार की रोक लग गई।[123]

'डोला-पालकी' आंदोलन में ये तनाव और स्पष्ट हो गए। गढ़वाल क्षेत्र में सवर्ण पारंपरिक रूप से शिल्पकारों या डोमों को अपनी नवविवाहिता पत्नी को डोला-पालकी में गाँव में लाने की अनुमति नहीं देते थे। ऐसा करने की कोशिश करने पर उन्हें बुरी तरह पीटा जाता था। ग़ौरतलब है कि डोला-पालकी का निर्माण अधिकतर शिल्पकारों द्वारा ही किया जाता था, और वे ही उसे उठाते भी थे, लेकिन वे स्वयं उसका प्रयोग नहीं कर सकते थे। इसे लेकर नाराज़गी बढ़ रही थी। बीसवीं सदी की शुरुआत में यह मुद्दा काफ़ी गंभीर हो गया। 1924 में दलितों के एक विवाह दल ने बिजनौर के पास एक गाँव में डोला-पालकी के साथ जाने का फ़ैसला किया। उन पर हमला किया गया और पालकी में आग लगा दी गई। 1940-41 में ऐसी कई घटनाएँ रिपोर्ट की गई जिसमें सवर्णों ने दलितों के विवाह दलों पर हमला किया, उनकी पिटाई की और पालकियों को तहस-नहस कर दिया।[124]

---

[121] उमा चक्रवर्ती (2003) : 109-11.

[122] पी.ए.आई., 1 जुलाई, (1933) : 333

[123] *दैनिक जागरण,* 12 सितंबर, (1938) : 4; पी.ए. आई, 17 मार्च, (1923) : 170.

[124] डोला-पालकी आंदोलन के लिए देखें : बलदेव सिंह आर्य, 'सवाल डोला पालकी'; और जसपालसिंह खत्री और शन्तन सिंह नेगी, 'शिल्पकारों का ऐतिहासिक संघर्ष: डोला पालकी आंदोलन'. दोनों इसमें शामिल : चमन लाल प्रद्योत, प्रवीण कुमार भट्ट और अरुण कुकसाल (सं), (2012): 143-7; 177-89; नवल वियोगी और म. अनवर अंसारी (2010): 477-8; अजय स. रावत (2002) : 270-1.

सहानुभूति की भाषावली की सीमाएँ सबसे अधिक रोटी-बेटी, सह-भोज और अंतर्जातीय विवाह – के विवादास्पद मुद्दों पर उभरकर आईं। रोटी-बेटी संबंध और सगोत्रीय विवाह जाति के स्थान और शरीर की वर्जनाओं को बनाए रखने का एक केंद्रीय आधार है जो स्त्री के शरीर पर जाति का घनघोर दबदबा दिखाता है। आंबेडकर ने सगोत्रीय विवाह की निरंतरता को जाति प्रथा की जकड़न का एक मूल कारण माना है। वे अंतर्जातीय विवाह को जाति के उन्मूलन और दलितों की बेहतरी का एक प्रमाण चिह्न मानते हैं, क्योंकि यह जाति 'पवित्रता' की अनवरता और स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण के बीच के संबंधों के कटु यथार्थ को बदलता है।[125]

उत्तर प्रदेश में आदि हिंदू आंदोलन के नेता स्वामी अछूतानंद ने दलितों के बीच उप-जातियों को समाप्त करने के लिए अंतर्जातीय विवाह का आह्वान किया, और प्रस्ताव दिया कि इस उपक्रम में मुस्लिम और ईसाई की भी मदद ली जा सकती है। जात-पात तोड़क मंडल के संस्थापक संतराम और उनके जैसे कुछ अन्य समाज सुधारकों ने भी अंतर्जातीय विवाह की वकालत की। संतराम ने अंतर्जातीय विवाहों पर अपने विमर्श में जाति, लिंग, यौनिकता, प्रेम और कामना को एक साथ जोड़कर इसे जाति-विरोधी अभिव्यक्तियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण वाहक बनाया।[126] बी.एस. मूंजे को लिखे एक पत्र में, किसी सुरेंद्रनाथ माहे ने सवाल किया :

> क्या हरिजन उत्थान में कोई वास्तविकता हो सकती है जब लोगों को नीच जातियों के साथ स्वतंत्रता से मिलने के अधिकार से वंचित किया जाता हो?... इसका एक ही समाधान है, वो है क़ानून में बदलाव – नागरिक विवाह अधिनियम की कमियों से परे अंतर्जातीय विवाह को पूरी तरह वैध बनाया जाए।[127]

दलित धर्मांतरणों को लेकर बढ़ती चिंता के कारण आर्य समाज और हिंदू महासभा बाहरी तौर पर अंतर्जातीय विवाह का समर्थन करने के लिए मजबूर हुए। इसके अलावा, 1932 का प्रस्तावित सांप्रदायिक अधिनियम दलितों को अलग प्रतिनिधित्व देने का वादा करता था जो हिंदू महासभा और सवर्ण राष्ट्रवादी राजनीति के लिए ख़तरे का संकेत था। इसी परिप्रेक्ष्य में हिंदू महासभा ने 1935 में पुणे में अपने 17वें सत्र में हिंदू समुदाय के सभी वर्गों के बीच, हरिजन समेत, अंतर्जातीय विवाह की पूरी आज़ादी के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया।[128]

पर इसको लेकर ज़मीन पर गहरा विवाद और बेचैनी व्याप्त थी, क्योंकि ज़्यादातर सुधारक यौनिकता और विवाह के सवाल पर संकीर्ण नज़रिया ही रखते थे।[129] अंतर्जातीय विवाह के मुद्दे

---

[125] शर्मिला रेगे (2013) : 59-64; अनुपमा राव (2009) : 232-3.

[126] संतराम (1929) : 596-608; संतराम (1959) : 23; चारु गुप्ता (2018) : 295-324.

[127] फ़ाइल 37/वॉल. ई/1934, *बी.एस. मुंजे पेपर्स*, एन. एम. एम. एल., दिल्ली.

[128] फ़ाइल म-3, *हिंदू महासभा पेपर्स, जनरल करेस्पॉन्डेंस फ़ाइल*, एन. एम. एम. एल.

[129] चारु गुप्ता (2016) : 77-83.

से रोजाना का पुलिसिया पहरा और हिंसा उजागर हुई, जिसे 'लैंगिकता का गठजोड़ मॉडल'[130] कहा जा सकता है — शादियों की ऐसी व्यवस्था जिसमें धर्म एवं जाति की सीमाओं का पहरा लगा होता है। प्रेम चौधरी दिखाती हैं कि अंतर्जातीय विवाह का मुद्दा औपनिवेशिक काल में कई नए रूपों में सामने आया और अधिक विवादास्पद हुआ (प्रेम चौधरी, 2007)। जातीय और लैंगिक असमानता ने एक दूसरे को पोषित किया। स्त्रियों की गतिविधियों और आचरण पर नियमन और यौनिक अनुशासन जाति और समुदाय की विशिष्टता को बनाए रखने के शक्तिशाली साधन बने (चारु गुप्ता, 2001)। दलित स्त्री के जीवन और सोच को पुनर्गठित करने के प्रयासों में वैवाहिक संबंधों के नए मानक गढ़े गए, जो सगोत्रीय विवाह की मज़बूती और यौनिकता के नियंत्रण पर आधारित थे। जाति सगोत्रीयता पर काफ़ी अमल होने लगा और यह अछूत जातियों में भी, जिनके काफ़ी भिन्न मानक थे, क़ानूनी तौर पर लागू होने लगी। सनातनी हिंदू बड़े पैमाने पर और आक्रामक रूप से यह तर्क दे रहे थे कि अंतर्जातीय विवाह विनाशकारी है और उसमें प्रजनन या हिंदू सभ्यता को विकसित करने की पर्याप्त क्षमता नहीं है।[131]

सुधारवादियों ने तर्क दिया कि हमें अछूतों को हमारे मंदिरों में प्रवेश करने और हमारे कुओं से पानी भरने की अनुमति देनी चाहिए। यह अपने आप में पर्याप्त है और वे इससे ज़्यादा कुछ नहीं चाहते हैं। वो रोटी-बेटी संबंध की इच्छा नहीं रखते हैं।[132] इसी सुर में गांधी ने कहा :

> यद्यपि वर्णाश्रम में अंतर्जातीय विवाह और अंतर खान-पान पर कोई बंदिश नहीं है, पर इसकी कोई बाध्यता नहीं हो सकती... यदि वर्णाश्रम के नियम का पालन किया जाए, तो जहाँ तक विवाह का संबंध है, स्वाभाविक रूप से लोगों में यही प्रवृत्ति होती है कि वे वैवाहिक संबंधों को उनके अपने वर्ण में ही सीमित रखें।[133]

कई सुधारकों ने द्विज जातियों के बीच तो अंतर्जातीय विवाह को बढ़ावा दिया, लेकिन सवर्णों और दलितों के बीच उन्हें प्रस्तावित करने की बात से बच गए। वास्तव में भंगियों और चमारों के साथ अंतर्जातीय विवाह को हतोत्साहित किया गया (परमेशीदास जैन, 1937)। या, ऐसा कहा गया कि कायस्थ और वैश्य को आपस में विवाह करना चाहिए, जैसा कि मालियों और धोबियों को करना चाहिए। इस प्रकार अंतर्जातीय विवाह के नाम पर क्षैतिज विवाह ही प्रोत्साहित किए जा रहे थे।[134]

अंतर्जातीय विवाहों को लेकर दुविधाएँ तत्कालीन लेखों, कहानियों, पत्रों और उपन्यासों में भी परिलक्षित हो रही थीं। प्रतिष्ठित हिंदी लेखक निराला ने अपना ब्राह्मणवादी रुझान

---

[130] मिशेल फूको (1978) : 106-11.

[131] शिरोमणि शर्मा (1927) : 100-2.

[132] आचार्य चतुरसेन (1930) : 171-72; शर्मा (1927) : 417-9; *इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 23 नवंबर, (1935) : 179.

[133] *इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 23 नवंबर, (1935) : 186.

[134] संपादकीय, *चाँद,* नवंबर (1926) : 121; 'अंतर्जातीय विवाह-प्रथा की व्यवस्था', *चाँद,* सितंबर (1934): 525-26.

दिखाते हुए एक लंबे लेख 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति' में संतराम द्वारा जात-पाँत तोड़क मंडल की स्थापना पर गहरा दुःख व्यक्त किया, संतराम पर कटु प्रहार किया, अंतर्जातीय विवाह तथा अंतर खान-पान की तीखी आलोचना की और जाति विभाजन और वर्णाश्रम धर्म का पुरज़ोर समर्थन किया :

> दोषों में संस्पर्श-दोष भी एक माना गया है।... म्लेच्छों के राज्य में रहने से उनके संस्पर्श से द्विजातीयत्व भी नष्ट होता है, दुराचरण फैलते हैं, समाज में अधोगति होती है, वर्णाश्रम-धर्म नहीं रह जाता।... शूद्रों के प्रति केवल सहानुभूति प्रदर्शन कर देने से ब्राह्मण-धर्म की कर्तव्यपरता समाप्त नहीं हो जाती, न जाति-पाँति तोड़क मंडल के मंत्री संतरामजी के क़रार देने से इधर दो हज़ार वर्ष के अंदर संसार का सर्वश्रेष्ठ विद्वान महामेधावी त्यागीश्वर शंकर शूद्रों के यथार्थ शत्रु सिद्ध हो सकते हैं।... जाति-पाँति तोड़क मंडल को मैं किसी हद तक सार्थक समझता, यदि वह 'जाति-पाँति-योजक मंडल' होता।... अछूतों के साथ रोटी-बेटी का संबंध स्थापित कर उन्हें समाज में मिला लिया जाए या इसके न होने के कारण ही एक विशाल संख्या हिंदू-राष्ट्रीयता से अलग है, यह एक कल्पना के सिवा और कुछ नहीं। दो मनों की जो साम्य-स्थिति विवाह की बुनियाद है और प्रेम का कारण, इस तरह के विवाह में उसका सर्वथा अभाव ही रहेगा। और, जिस यूरोप की वैवाहिक प्रथा की अनुकूलता संतरामजी ने की है, वहाँ भी यहाँ की तरह वैषम्य का साम्राज्य है। किसी लार्ड-घराने की लड़की के साथ किसी निर्धन और निर्गुण मज़दूर का विवाह नहीं हुआ।... बी.ए. पास करके झींगुर लोध अगर ब्राह्मणों को शिक्षा देने के लिए अग्रसर होंगे, तो संतरामजी की ही तरह उन्हें हास्यास्पद होना पड़ेगा।[135]

अंतर्जातीय रोमांस का चित्रण आमतौर पर एक त्रासदी के रूप में समाप्त होता था। उदाहरण के लिए, *चाँद* में प्रकाशित एक पत्र में एक चमारिन की कहानी बयान की गई जो एक सवर्ण पुरुष के साथ एक आध्यात्मिक रोमांस का जीवन जी रही थी। अंततः यह संबंध उसके लिए बेहद अभागा साबित हुआ जिसमें उसकी मृत्यु हो गई।[136] दलितों के कुछ विवरणों में अंतर्जातीय विवाहों के उदाहरण के ज़रिये सवर्णों के मानदंडों की कड़ी आलोचना की गई। 1943 में नंदलाल जायसवार 'वियोगी' द्वारा एक सशक्त नाटक *अछूतों का इंसाफ़* लिखा गया।[137] जायसवार आदि हिंदू आंदोलन के एक सक्रिय सदस्य थे। उनके नाटक में एक चमार लड़के विमल और एक ब्राह्मण पुजारी की बेटी मलीना के बीच एक अंतर्जातीय रोमांस को दर्शाया गया जिसमें आख़िरकार दोनों आत्महत्या कर लेते हैं। इस विवरण में सवर्णों के पाखंड और कपट की तीखी आलोचना की गई। इसके अलावा, कई सवर्ण लेखकों के कथा साहित्य में दलित उत्पीड़न और दलित स्त्री पीड़िता के वर्णन विरोधाभासी रूप में सामने आए। शायद यह प्रेमचंद के साहित्य में सबसे अधिक अभिव्यक्त हुआ।

---

[135] सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (1929) : 836-42 [836-43].

[136] *स्मृति कुञ्ज* (1927) : 339-42.

[137] नंदलाल जायसवार 'वियोगी' (1943).

पीड़िता से परे? प्रेमचंद की कहानियों में दलित स्त्री

प्रेमचंद (1880-1936) के लेखन में, शायद पहली बार, हिंदी के प्रतिष्ठित साहित्य में दलित नायकों की उल्लेखनीय और व्यापक उपस्थिति दर्ज हुई। प्रेमचंद के साहित्य में दलित चित्रण पर गहन विचार-विमर्श हुआ है और इस विषय पर कई किताबें प्रकाशित हुई हैं।[138] इस विमर्श में एक तरफ़ तो प्रेमचंद की एक लेखक के रूप में भरपूर प्रशंसा की गई है और कहा गया है कि उन्होंने गहरी संवेदनशीलता के साथ दलितों का चित्रण किया है, तो दूसरी तरफ़ कई अग्रणी दलित पुरुष लेखकों ने उनके लेखन की तीखी आलोचना करते हुए उसे पूरी तरह ख़ारिज किया है। दलित लेखकों, जैसे ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय और श्योराज सिंह 'बेचैन' ने प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' की विशेष रूप से कड़वी आलोचना की है।[139] प्रेमचंद के लेखन में स्त्रियों के चित्रण पर भी काफ़ी समृद्ध समीक्षात्मक साहित्य है जो जाति, वर्ग और धर्म की सीमाओं को लाँघता है, लेकिन आमतौर पर इसमें दलित नारीवादी परिप्रेक्ष्य की संवेदनशीलता का अभाव है।[140] ख़ुद मेरे एक शुरुआती शोध में भी इस नज़रिए की कमी रही।[141] दलितों और स्त्रियों के लेखन का संदर्भ लेते हुए, साथ ही उसे और सघन बनाते हुए, इस भाग में मैं प्रेमचंद की कुछ लघु कहानियों में दलित स्त्रियों के चित्रण का विश्लेषण करूँगी। इनमें से अधिकांश चित्रणों में पीड़िता की तस्वीर है, जिसके साथ है एक रूमानी आदर्शवाद का मिश्रण। इस प्रकार की तस्वीर अधिकतर सवर्ण सुधारवादियों के नज़रिए की पुष्टि करती है। फिर भी, प्रेमचंद कहीं-कहीं दलित स्त्रियों की उभरती विद्रोही आवाज़ों को दर्ज करते हुए अपने पारंपरिक चित्रणों से परे जाते हैं। और शायद यहीं वे सुधारवादियों की प्रमुख अवधारणाओं में कुछ दरारें पैदा करते हैं। हालाँकि ऐसे चित्रण कभी भी बेहद भिन्न या अलग से उभरकर नहीं आते हैं और कई और चीज़ों के साथ घुले-मिले रहते हैं। प्रेमचंद की कहानियों में दलित स्त्री की प्रताड़ना का चित्रण सबसे सशक्त नज़र आता है। कहानी 'मंदिर' (मई 1927) में एक चमारिन विधवा सुखिया अपने बेहद बीमार बेटे के लिए पूजा करने मंदिर जाती है, लेकिन ब्राह्मण पुजारी उसे मंदिर प्रवेश से मना कर देता है। अधूरी इच्छा और दुर्व्यवहार के दुःख में बेटा और माँ, दोनों प्राण त्याग देते हैं।[142] यह कहानी काफ़ी हद तक मंदिर प्रवेश आंदोलन से प्रेरित है, जो उस समय अपने चरम पर था। कहानी इस आंदोलन की कई अस्पष्टताओं और उलझनों से घिरी हुई है : प्रेमचंद ने कहानी के किरदार के रूप में एक पुरुष नहीं, बल्कि एक दलित स्त्री को केंद्र में रखा है; सुखिया हिंदू प्रतिमान और दायरे में ही सोचती-समझती है; यहाँ उसके मूक दर्द और बलिदान का कारुणिक चित्रण है; ब्राह्मण पुजारी की कठोरता का उपहास है; साथ ही ऊपर से आरोपित सुधार का सुझाव है, जो गांधीवादी साँचे में है।

[138] कांतिमोहन (2010); जाधव बलवन्त साधु (1992); कल्पना गवाली (2005); सदानंद शाही (2000); रतनकुमार सम्भारिया (2011); शशि भूषण उपाध्याय (2002) : 51-79; लॉरा र. ब्रुएक (2014) : 43-60; तोरल जतिन गजरावाला (2013) : 32-67.

[139] साथ ही देखें, प्रदीप क. शर्मा (2006) : 88-92; व. ब. रावत (2006); लॉरा र. ब्रुएक (2014) : 43-60.

[140] गीता लाल (1965); ओम अवस्थी (1962); गीतांजलि पांडे (1996): 2183-87; एन. जैन (1986) : 40-44.

[141] चारु गुप्ता (1991) : 88-113.

[142] प्रेमचंद (1984), *मानसरोवर :* भाग 5 : 5-13.

प्रेमचंद ने उस दौर के एक बेहद ज्वलंत मुद्दे – दलितों द्वारा सभी कुओं से पानी खींचने – पर अपनी कहानी 'ठाकुर का कुआँ' (अगस्त 1932) में फिर से इस समस्या के जेंडर पक्ष पर ध्यान दिया, और यहाँ भी दलित स्त्री को मुख्य भूमिका में रखा। अपने बेहद बीमार पति जोखू के लिए ठाकुर के कुएँ से पानी खींचने की कोशिश में दलित गंगी विफल रहती है और घर लौटकर वह अपने पति को बर्तन से गंदा पानी पीते हुए देखती है।[143] एक अन्य कहानी 'दूध का दाम' एक भंगिन के बारे में है, जो सवर्ण ज़मींदार के बेटे की दाई भी है और दूध पिलाने वाली भी। वह अपने मालिक के बेटे के लिए अपने ख़ुद के बच्चे को भूखा रखती है, लेकिन इसकी एवज में उसे या उसके बेटे को बचे-खुचे भोजन के अलावा कुछ नहीं मिलता है।[144] प्रचलित रीति-रिवाजों और विश्वासों के ख़िलाफ़ पाठकों को प्रेरित करते हुए इन कहानियों में दलित स्त्री के धीरज और सहन-शक्ति के प्रति एक सहानुभूति जताई जाती है। लेकिन यहाँ सामूहिक प्रतिकार या विद्रोह के लिए बहुत कम जगह बचती है। ये कहानियाँ आम तौर पर प्रताड़ना और पीड़िता के दायरे में आती हैं जिनमें पीड़ा, संवेदना, दुख, भावुकता, सहानुभूति और समर्पण के भाव रहते हैं, और जो पिछले हिस्सों में उल्लेख किए गए सुधारवादी विमर्श का ही विस्तार लगता है।

उपरोक्त कहानियों में प्रेमचंद ने पुजारियों और ज़मींदारों के हाथों दलित स्त्रियों की जाति वंचना का सशक्त चित्रण किया है, लेकिन उसकी कई सीमाएँ हैं। अपनी कुछ एक कहानियों में उन्होंने दलित स्त्रियों और पुरुषों के बीच संबंधों पर भी टिप्पणी की है। शोधकर्ताओं ने यह दर्ज किया है कि कैसे प्रेमचंद की कुछ कहानियों में दलित स्त्रियों के चित्रण को लेकर एक प्रकार की रूमानियत है – उन्होंने घर के अंदर और बाहर हाड़-तोड़ मेहनत करने के 'गुणों' के कारण सवर्ण घरेलू स्त्रियों की तुलना में दलित स्त्रियों को कहीं ज़्यादा स्वच्छंद, स्वतंत्र और दलित पुरुषों के साथ समानता का स्तर रखने वाली दिखाया है।[145] कुछ अध्येताओं और दलित स्त्रीवादी अकादमिक कर्मियों ने ऐसे चित्रण पर सवालिया निशान खड़े किए हैं, क्योंकि वह कई बार दलित पितृसत्तात्मकता से हमारा ध्यान हटाता है। वहीं, घरेलू हिंसा के ख़िलाफ़ निम्न-जाति की स्त्रियाँ अधिक मुखर दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिए कहानी 'अभिलाषा' (अक्टूबर 1928) एक पानवाले द्वारा अपनी पत्नी की पिटाई से शुरू होती है।[146] स्त्री क्रोधित होकर कहती है: 'बस, मारोगे तो ठीक न होगा। आज से मेरा तुझसे कोई संबंध नहीं। मैं भीख माँगूंगी, पर तेरे घर न आऊँगी'।[147] दलित जातियों में सेक्स के अपेक्षाकृत कम कठोर आचारों की बात करते हुए कहानी 'बालक' (अप्रैल 1933) में गंगू एक 'चरित्रहीन' क़रार की गई निम्न-जाति की विधवा से शादी करता है। गंगू अपनी पत्नी को बेहद प्यार करता

143 वही : भाग 1 : 141-4.

144 वही : भाग 2 : 204-14.

145 शशि भूषण उपाध्याय (2002) : 55-58.

146 प्रेमचंद (1984), *मानसरोवर :* भाग 4 : 93-9.

147 वही : 93.

है और उसके साथ बहुत ख़ुश है। कुछ समय बाद गंगू को पता चलता है कि उसकी पत्नी किसी और के बच्चे के साथ गर्भवती है।[148] गंगू को उस बच्चे को अपना मानने में कोई हिचक नहीं होती है। वह कहता है :

> मैंने तुमसे इसलिए विवाह नहीं किया कि तुम देवी हो; बल्कि इसलिए कि मैं तुम्हें चाहता था और सोचता था कि तुम भी मुझे चाहती हो। यह बच्चा मेरा बच्चा है।... मैंने एक बोया हुआ खेत लिया, तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूँगा कि उसे किसी दूसरे ने बोया था?[149]

हालाँकि, प्रेमचंद ने प्रायः दलित स्त्रियों को 'आदर्श', चरित्रवान पत्नी के रूप में चित्रित किया। उदाहरण के लिए, उनकी कहानी 'सती' (मई 1932) में एक निम्न-जाति की सुंदर मुलिया की शादी बदसूरत कल्लू से होती है। मुलिया की सुंदरता के कारण कुरूप कल्लू उस पर भरोसा नहीं करता है, जबकि उसकी पत्नी वफ़ादार है। मुलिया अपनी तरफ़ से अपने अविश्वासी पति की पूरी निष्ठा से सेवा करती है और बीमारी के दौरान पति का पूरा ध्यान रखती है लेकिन कल्लू मर जाता है। उसका चचेरा भाई राजा, मुलिया पर डोरे डालने की कोशिश करता है पर मुलिया पर इसका कोई असर नहीं पड़ता है। दूसरी शादी उसके लिए नहीं है। उसने सती की तरह जीने का फ़ैसला किया है।[150] एक अन्य कहानी है 'देवी' (अप्रैल 1935), जिसमें एक अछूत स्त्री तुलिया का पति परदेस से कभी वापस नहीं लौटता, जहाँ वह पैसा कमाने के लिए गया था। तुलिया हमेशा के लिए अकेले रहती है।[151] ये कहानियाँ कई प्रकार से व्याख्यायित की जा सकती हैं : सवर्ण स्त्रियों की तरह अछूत स्त्री की एक 'पवित्र' और वफ़ादार पत्नी की छवि जो पुनर्विवाह से इनकार करती है; या दलित स्त्रियों की सेक्स अराजक, कच्चे और ग़ैर वफ़ादार के रूप में प्रचलित संकीर्ण छवि से अलग एक पहचान। दलित स्त्रियों द्वारा सवर्णों के मानदंडों और आचार-विचार-व्यवहार का व्यक्तीकरण और अनुकरण भी कभी-कभी संभावित चुनौती और प्रतिकार की भूमिका बना सकता है। दलित स्त्री को शुद्ध और पवित्र के साँचे में ढालते हुए प्रेमचंद कुछ गृहित और कथित सवर्ण मूल्यों को तरजीह दे रहे थे, पर साथ ही दलित स्त्री की प्रचलित और स्थापित छवि को भी एक रूप में चुनौती दे रहे थे।

प्रेमचंद की कलम से अंतर्जातीय रोमांस, संबंध और शादी का भी चित्रण हुआ। 'सुभागी' कहनी एक आदर्श, निम्न-जाति की बाल विधवा के बारे में है, जिसकी अंततः एक सवर्ण पुरुष से शादी होती है।[152] 'सौभाग्य के कोड़े' कहानी में एक ब्राह्मण स्त्री रत्ना एक भंगी से

---

148 वही : भाग 2 : 215-24.

149 वही : 223.

150 वही : भाग 4 : 145–53.

151 अमृत राय (1978) : 61-2.

152 प्रेमचंद, *मानसरोवर:* भाग 1 : 258–67.

शादी करती है जो एक अति-प्रतिष्ठित आचार्य और धर्म का शिक्षक है। यद्यपि भंगी अपनी पत्नी से अपनी जाति छिपाता है, वह उसे तुरंत पहचान लेती है और सब कुछ जान-समझकर भी अंतर्जातीय विवाह की ओर अपने क़दम बढ़ाती है। साथ ही, वह अपने भंगी पति से अनुरोध करती है कि वह उसके पिता को कभी अपनी जाति का पता न चलने दे।[153] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचंद अंतर्जातीय विवाह को जातिगत पूर्वाग्रहों की जकड़ ढीली करने के एक उपाय के रूप में अप्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं, पर फिर भी प्रायः अपनी आवाज़ मंद रखते हैं। सुधारकों के लिए सबसे द्वंद्वपूर्ण मुद्दे – अंतर्जातीय विवाह – पर प्रेमचंद अपने क़दम बड़े सँभलकर और बचकर रखते हैं, ख़ासकर जहाँ प्यार और आकर्षण का मिश्रण हो।

यद्यपि प्रेमचंद आम तौर पर यौनिकता के सवाल पर असहज थे, पर उनकी एक-दो कहानियों में लिंग, जाति और यौन शोषण के अंतर्संबंध, ख़ासकर दलित स्त्री के संदर्भ में, झकझोरने वाले रूप में प्रस्तुत होते हैं। प्रेमचंद यहाँ दलित स्त्री को न केवल नतमस्तक पीड़िता के रूप में बल्कि एक आक्रोशपूर्ण आंदोलनकारी के रूप में प्रदर्शित करते हैं। ये आवाज़ें दलित स्त्री की होने के कारण और अधिक प्रभावी हो जाती हैं। 'घासवाली' (दिसंबर 1929) एक विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी में मुलिया एक ग़रीब चमार स्त्री है, जिसे सवर्ण ज़मींदार चैन सिंह यौनिक उत्पीड़न का शिकार बनाना चाहता है। उसके लिए यह मान लेना 'स्वाभाविक' है कि दलित स्त्रियों के बीच एक सुंदर चेहरा सवर्ण पुरुषों के लिए केवल खेल की चीज़ है।[154] उसने कई बार ऐसे खेल खेले हैं, पर मुलिया उसके प्रस्तावों को ठुकरा देती है। वह अपनी पूरी ताक़त से आरोप लगाती है :

> फिर भी अगर मेरा आदमी तुम्हारी औरत से इसी तरह बातें करता, तो तुम्हें कैसा लगता?... मुझसे दया माँगते हो, इसलिए न कि मैं चमारिन हूँ, नीच जाति हूँ और नीच जाति की औरत ज़रा-सी घुड़की-धमकी या ज़रा से लालच से तुम्हारी मुट्ठी में आ जाएगी। कितना सस्ता सौदा है! ठाकुर हो न, ऐसा सस्ता सौदा क्यों छोड़ने लगे?[155]

इस पर चैन सिंह दावा करता है : '... मैं तो तेरे चरणों पर सिर रखने को तैयार हूँ'। मुलिया जवाब देती :

> इसलिए न कि जानते हो, मैं कुछ नहीं कर सकती। जाकर किसी खतरानी के चरणों पर सिर रखो, तो मालूम हो कि चरणों पर सिर रखने का क्या फल मिलता है! फिर यह सिर तुम्हारी गर्दन पर न रहेगा।[156]

---

[153] वही : भाग 3 : 220–33.

[154] प्रेमचंद, *मानसरोवर* : भाग 1 : 305–17.

[155] वही : 309.

[156] वही.

मुलिया न केवल प्रचलित और स्वीकृत मानदंडों के ख़िलाफ़ विद्रोह करती है, बल्कि यौन हिंसा की गहरी जातिगत श्रेणीबद्ध प्रकृति की भी काट करती है। वह सचेतन, जुझारू, मुखर और मज़बूत इरादों वाली है, और उसका प्रतिकार केवल औपनिवेशिक शासन के नहीं बल्कि सवर्ण सामंती यौन उत्पीड़न और दमन के ख़िलाफ़ भी है।[157]

प्रेमचंद की इन कहानियों के दलित स्त्री पात्रों को दलित आत्म-कथात्मक लेखन के साथ रखकर तुलनात्मक रूप से अध्ययन करना एक भिन्न प्रस्थान-बिंदु हो सकता है। अलग-अलग समय, स्थान और संदर्भ के कारण ऐसी तुलना अर्थहीन है। फिर भी, ऐसे मूल्यांकनों से प्रेमचंद के बारे में कहीं ज़्यादा बारीक समझ विकसित हो सकती है जो केवल महिमामंडन या मर्दन के नज़रिए से बाध्य नहीं है। यह बिंदु जिस विस्तार की अपेक्षा रखता है, वह इस आलेख में संभव नहीं लेकिन हम इतना तो कह सकते हैं कि दलित पुरुषों की कई रचनाओं में दलित पितृसत्ता प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में काम करती है।[158] यद्यपि इन रचनाओं में जाति और वर्चस्व के सवालों पर एक गहरी संवेदनशीलता है, पर पितृसत्ता के प्रति एक उदासीनता है, और ये अक्सर केवल प्रताड़ित नारीत्व की अवधारणा को ही पोषित करती है। इस प्रकार के ज्ञानात्मक अंधेपन के कारण दलित पुरुष लेखनी में कई व्यावहारिक दृष्टिकोणों और लोकाचार के बावजूद एक प्रकार का दलित पुरुषत्व नज़र आता है जो लिंग के सवाल पर अव्यक्त तौर पर विरोधाभासों से घिरा है।

दलित स्त्री पात्रों के इर्द-गिर्द प्रेमचंद की कहानियाँ उस तत्कालीन सामाजिक परिवेश की शिनाख़्त करती हैं, जब सुधारवादी विमर्श दलित स्त्रियों की प्रदूषित देह की छवि से गुज़रते हुए उनकी पीड़िता छवि पर अपना ध्यान केंद्रित कर रहा था। अगर हम प्रेमचंद की कहानियों के दलित स्त्री पात्रों को बीसवीं शताब्दी के आरंभिक परिष्कृत हिंदी साहित्य के संदर्भ में रख कर देखें, जिसमें दलित चित्रण न केवल पुरुष प्रधान था, बल्कि बहुत सी सीमाओं में क़ैद था, तो प्रेमचंद कुछ और ज़्यादा करते हुए नज़र आते हैं। उनकी कहानियाँ एक ओर उस दौर के सवर्ण सुधारवादियों के डाँवाँडोल, विरोधाभासी और अस्थाई रुख को दर्शाती हैं, जो उस समय की सीमाओं में आबद्ध था और एक प्रकार के बवंडर में फँसा हुआ था। लेकिन दूसरी ओर उनमें कहीं-कहीं हमें दलित स्त्री के प्रतिरोध की चिंगारी भी नज़र आती है। इन कहानियों में दलित स्त्रियों की बहुआयामी संवेदनाओं, भावनाओं, मूल्यों और विचारों की क्रिया-प्रक्रिया को किसी सीधी, स्याह-सफ़ेद श्रेणी में क़ैद नहीं किया जा सकता है।

निष्कर्ष

उपदेशात्मक साहित्य के एक हिस्से में, और ख़ासकर चमार दाई के चित्रण में, दलित स्त्रियों को कई प्रकार से भ्रष्ट, दुराचारी, गंदी और बिकाऊ प्रस्तुत किया गया। यहाँ अशुभ, अनैतिक,

[157] देखें, अनिता भारती (2013) : 107.

[158] दलित आत्मकथाओं में अनुपस्थित दलित स्त्री के लिए देखें, सारा बेथ (2007) : 545–74, ख़ासतौर से : 562.

पुरातन, प्रदूषित और गंदे स्त्री शरीर के सिद्धांत नए मुहावरों, प्रतीकों, साहित्यों और विमर्शों के ज़रिए पुनर्अवतरित हुए। इससे हिंदू सवर्णों के व्यवहारों, मूल्यों और विचारों को, विशेषकर स्त्रियों के बारे में, मज़बूती मिली। साथ-ही-साथ इससे सवर्ण पुरुषों के डर, वितृष्णा और दुश्चिंता की झलक मिलती है, जिसने दलित स्त्रियों की एक सामूहिक छवि निर्मित करने में योगदान किया। इस सबको एक साथ देखा जाए तो वर्चस्वशाली सवर्ण जातियों द्वारा इस प्रकार के चित्रण से दलित स्त्रियों के बारे में एक ख़ास मिथक मज़बूत करने और उनकी निम्नता को स्वाभाविक बनाने की ज़मीन तैयार हुई। इन चित्रणों को कई प्रकार से सृजित और निर्मित किया गया जिससे सवर्ण जातियों के हित और गहरे रूप से स्थापित हो सकें। इनसे सभ्यता और अराजकता, कामना और भय पर विचार करने के रास्ते तैयार हुए। इससे न केवल जाति का श्रेणीकरण मज़बूत होता था बल्कि स्त्रियों के बीच सवर्ण और दलित का विभेद गहराता था। स्त्रियों के बीच इस प्रकार के सामाजिक और सांस्कृतिक ध्रुवीकरण और क़िलेबंदी के कारण एक ही लिंग के आपसी द्वंद्व उभरकर सामने आए। इस प्रकार की संहिताओं से दलित स्त्री का रूपांतरण एक दुष्ट, गंदे, यौनिकता से भरपूर और ख़तरनाक समूह के रूप में हुआ। दूसरी तरफ़ सवर्ण स्त्रियाँ शुद्ध, संपूर्ण और एकज बनी रहीं। इससे यथार्थ और सत्य चित्रित करने का एक भ्रम पैदा और स्थापित हुआ, जिसकी एक मुख्य ताक़त थी, 'दूसरे' पर कमान कसना। लेकिन इसके साथ-ही-साथ, दलित स्त्रियाँ केवल बेज़ुबान दर्शक नहीं थीं, बल्कि जैसाकि चमार दाईयों की गतिविधियों से ज़ाहिर होता है, वे अपनी छवि और उसके चित्रण का खंडन भी कर रही थीं।

साथ ही हम यह भी पाते हैं कि औपनिवेशिक उत्तर भारत में हिंदी-हिंदू सुधारवादियों का एक तबक़ा यह सृजनात्मक प्रयास कर रहा था कि सवर्ण हिंदू जातियों में उनके अछूतों के प्रति व्यवहारों को लेकर एक प्रकार की अपराध बोध, नैतिकता का भाव जगाया जाए। दलित स्त्रियों के संदर्भ में जहाँ एक ओर उपदेशात्मक लेखन के एक हिस्से में उनकी 'प्रदूषित' देह का चित्रण था, वहीं दूसरी तरफ़ सुधारवादी लेखन में उनके पीड़ित और दुखदाई शरीर के प्रति एक गहरी चिंता और एक संवेदनात्मक-भावनात्मक संबंध पर ज़ोर दिया जाने लगा। पीड़िता और दुःख के दृश्य उसकी छवि के मुख्य रंग बन गए, जिसके द्वारा सवर्णों की 'आंतरिक' और 'उन्नत' भावनाओं, जैसे सहानुभूति, करुणा और हमदर्दी, को संबोधित किया गया। पर इसमें निहित भाषा, बिंबों और अभिव्यक्तियों में कई समस्याएँ थीं। यहाँ दलित स्त्रियाँ अक्सर शक्तिविहीन थीं और असहाय तथा चुपचाप रहकर अपनी दयनीय स्थितियों को झेल रही थीं। सवर्ण सुधारवादियों के अपराध बोध की कई सीमाएँ थीं। दलित स्त्रियों की दासवत देह; उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक आदतों में 'सुधार' के लिए सवर्ण स्त्रियों का आह्वान और नेतृत्व, तथा सवर्णों के तौर-तरीक़ों और मानदंडों का अनुसरण; और अंतर्जातीय विवाह के प्रति वैचारिक असंगतियाँ – इन सबसे जाति की आलोचना कमज़ोर और धूमिल हुई। दुःख, पीड़िता और प्रताड़ना की भाषा ने दलित स्त्री के सवाल का अराजनीतिकरण किया; उसे राजनैतिक और

आर्थिक प्रश्न से परे केवल एक सहानुभूतिपूर्ण सामाजिक प्रश्न के रूप में देखा। नैतिकता के अपराध बोध और करुण रस के बीच शोषण की गहरी जड़ों की खोज शिथिल हो गई। संस्थागत और व्यवस्थित जातीय शोषण की सच्चाई कुछ प्रतीकात्मक व्यंजकों में सिमट गई। इसका नतीजा यह था कि व्यापक वर्चस्वशाली विमर्श बदस्तूर जारी रहे।

हिंदी में प्रकाशित उपदेशात्मक पुस्तकों और जाति नियमावलियों में आम तौर पर निम्न और सवर्ण स्त्रियों के बीच *अंतर* साबित करने की कोशिश हुई। अन्य प्रकार के सुधारवादी साहित्य ने आमतौर पर अछूत और सवर्ण स्त्रियों के बीच की *समानता*, समरूपता और सामूहिकता पर ज़ोर दिया। इस प्रक्रिया में ये दोनों ही विचारफलक हमेशा पारस्परिक रूप से जुदा और अलग नहीं थे, बल्कि कई बार अछूत स्त्रियों की आदतों-व्यवहारों के बारे में समान राय रखते थे। प्रदूषण की जगह पीड़ा, भर्त्सना की जगह रूमानियत, चरित्रहीन की जगह प्रताड़िता – इस प्रकार का प्रतिस्थापन एक-दूसरे के अंदर गुँथा हुआ था। ये चित्रण अलग-अलग रूप में और संदर्भों में साथ जुड़कर भी काम करते थे, और उनका जुड़ाव प्रायः सहज और समरूप होता था। औपनिवेशिक उत्तर भारत में दलित स्त्री संबंधी संकीर्ण और उदारवादी विमर्श और प्रस्तुति का विरोधाभास यही था, जिसमें दोषारोपण और भर्त्सना तथा प्रताड़ना और सहानुभूति, दोनों हाथ में हाथ डालकर चल रहे थे। इस तरह के चित्रण के विरोध में वर्तमान समय में दलित स्त्रियाँ अपने अतीत को चुनौती देती हुई नए बिंब और नई पहचान निर्मित कर रही हैं।

संदर्भ

'अछूत अंक' (1927), चाँद, मई.

'अछूत नारी का समुद्धार' (1927), चाँद, मई : 178-180.

'अछूत नारी की दुर्दशा' (1927), चाँद, मई : 175-178, 'अछूतोद्धार' (1931), *सुधा*, फ़रवरी : 33-40.

अजय एस. रावत (2002), *गढ़वाल हिमालयाज़ : ए स्टडी इन हिस्टॉरिकल पर्स्पेक्टिव*, इंडस पब्लिशिंग.

'अंतर्जातीय विवाह-प्रथा की व्यवस्था' (1934), चाँद, सितंबर : 525-526.

अनिता भारती (2013), *समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध,* स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली.

अनुपमा राव (2009), द *कास्ट क्वेश्चन : दलित्स ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया,* पर्मनेंट ब्लैक, दिल्ली.

अबला हितकारक (1887), अमेरिकन मिशन प्रेस, 15 अक्टूबर, लखनऊ.

अभ्युदय (1925), 21 नवंबर.

अभ्युदय (1926), 20 मार्च.

अमृत राय (सं.) (1978), *गुप्त धन*, *भाग 2*, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद.

अंशु मल्होत्रा (2003), 'ऑफ़ दाईज़ ऐंड मिडवाइव्स: "मिडिल क्लास" इंटरवेंशंस इन द मैनेजमेंट ऑफ़ रिप्रोडक्टिव हेल्थ इन कोलोनियल पंजाब', *इंडियन जर्नल ऑफ़ जेंडर स्टडीज़* 10 (2).

अयोध्या प्रसाद भार्गव (1923), *संतति शास्त्र: अर्थात मनुष्य जाति की उत्तम संतान उत्पन्न करने के नियमों का संग्रह*, भार्गव बुक डिपो, बनारस.

आचार्य चतुरसेन (1930), *धर्म के नाम पर*, इलाहाबाद.

आनन्दी प्रसाद (1927), 'उपहार', चाँद, मई : 133.

आनंदी प्रसाद श्रीवास्तव (1928), *अछूत : एक समाज नाटक*, विश्व ग्रंथावली, इलाहाबाद.

आर. के. क्षीरसागर (1994), *दलित मूव्मेंट इन इंडिया ऐंड इट्स लीडर्स (1857-1956)*, एम.डी. पब्लिकेशंस, क्षीरसागर, दिल्ली.

ओम अवस्थी, (1962), *प्रेमचंद के नारी पात्र,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली.

ओलिवर मेंडेलसोहन, और मारिका विक्जिआनी (1998), द अनटचेबल्स : सबऑर्डिनेशन, पॉवर्टी ऐंड द स्टेट इन मॉडर्न इंडिया, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, ई. ए. एच. ब्लंट (1931), द *कास्ट सिस्टम ऑफ़ नॉर्दर्न इंडिया : विद स्पेशल रेफ़रेंस टू यूपी*, लंदन.

ई. एच. व्याट (1918), *मेटरनिटी : ए सिंपल बुक फ़ॉर मदर्स ऐंड मेटरनिटी नर्सेज़ इन इंडिया,* इलाहाबाद.

ईश्वरदत्त शर्मा (1916), 'आत्म-त्याग', *सरस्वती*, 17 (2, 3), सितंबर : 182.

उमा चक्रवर्ती (1989), 'व्हाटएवर हैपेन्ड टू द वेदिक दासी? ओरिएन्टलिज़म, नैशनलिज़म, ऐंड द स्क्रिप्ट फ़ॉर द पास्ट', कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सं.), *रिकास्टिंग वूमेन: एसेज़ इन कोलोनियल हिस्ट्री*, काली फ़ॉर वूमेन, दिल्ली.

उमा चक्रवर्ती (2003), *जेंडरिंग कॉस्ट थ्रू अ फ़ेमिनिस्ट लेंस,* स्त्री, कलकत्ता.

उमा चक्रवर्ती (2004), 'वीमेन, मेन ऐंड द बीस्ट्स : द जातकास एज पॉपुलर ट्रेडिशंस', अलोका पाराशर-सेन (सं.), *सबऑर्डिनेट ऐंड मार्जिनल ग्रुप्स इन अर्ली इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 210-42

ए. आई. डब्लू. सी. (1934), *एनुअल रिपोर्ट*, कलकत्ता.

ए. टी. ऐटकिनसन (1879), *बदायूँ : स्टॅटिस्टिकल, डिस्क्रिप्टिव ऐंड हिस्टॉरिकल अकाउंट ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न प्रॉविंस ऑफ़ इंडिया*, भाग V, खंड एक, गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद.

एक प्रत्यक्षदर्शी (1930), 'सतीत्व रक्षा के प्रति', *दम्पति* 1, 1 अगस्त.

एच. आर. नेविल (1904), *बाराबंकी : ए गजेटियर, डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ़ यू.पी और ओ*, भाग : XLVIII, गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद.

एन. जैन (1986), 'वीमेन इन प्रेमचंद्'स राइटिंग्स', *जर्नल ऑफ़ साउथ एशियन लिटरेचर*, 21 (2) : 40-44.

एम.आई. बालफोर (1916), 'द ट्रेनिंग ऑफ़ दाईज़', *जर्नल ऑफ़ द एसोसिएशन ऑफ़ मेडिकल वीमेन इन इंडिया* 5(9), फ़रवरी: 19.

एम.आई. बालफोर (1932), 'इंडियन वीमेन इन इंडस्ट्री', द *जर्नल ऑफ़ द एसोसिएशन ऑफ़ मेडिकल वीमेन इन इंडिया* XX(4), नवंबर : 5-18.

एम. आई. बालफोर और रूथ यंग (1929), द वर्क ऑफ़ मेडिकल वीमेन इन इंडिया, लंदन., एस. सी. चतुर्वेदी (1947), *रूरल वेजेज़ इन द यूनाइटेड प्रोविंसेस (ए स्टडी ऑफ़ द मेटेरियल कलेक्टेड ड्यूरिंग द सेवेंथ क्वीनकेनियल इन्क्वायरी इंटू रूरल वेजेज कंडक्टेड इन दिसंबर 1944),* गवर्नमेंट ऑफ़ द यू. पी., डिपार्टमेंट ऑफ़ इकनॉमिक्स ऐंड स्टटिस्टिक्स, इलाहाबाद.

एस.एस. गौतम (संकलित) (2007), *भारतीय साहित्य में महिलाओं पर अभद्र कहावतें*, गौतम बुक सेंटर, दिल्ली.

ऐन ओकले (1984), द *कैप्चर्ड वुम्ब: ए हिस्ट्री ऑफ़ द मेडिकल केयर ऑफ़ प्रेग्नेंट वीमेन,* बेसिल ब्लैकवेल, न्यू यॉर्क.

ऐनी मैक्लिंटॉक (1995), *इम्पीरियल लेदर: रेस, जेंडर ऐंड सेक्सुअलटी इन द कॉलोनियल कॉन्टेस्ट*, रटलेज, न्यू यॉर्क.

ऐलेन स्कार्री (1985), द *बॉडी इन पेन: द मेकिंग ऐंड अनमेकिंग ऑफ़ द वर्ल्ड*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

कँवल भारती (2000), 'दलित साहित्य और प्रेमचंद', शाही (सं.), *दलित साहित्य*.

कँवल भारती (2011), *स्वामी अछूतानंदजी 'हरिहर' और हिंदी नवजागरण,* स्वराज प्रकाशन, दिल्ली.

क. ओ. वौघन (1916), 'शुड द दाई बी ट्रेंड ओर सूपरसीडेड?', *जर्नल ऑफ़ द एसोसियेशन ऑफ़ मेडिकल वूमन इन इंडिया* 5(9), फ़रवरी.

कन्नोमल (1923), *महिला सुधार,* महावीर ग्रंथ कार्यालय, आगरा.

कल्पना राम और मार्गरेट जॉली राम (सं.) (1998), *मैटर्निटीज़ ऐंड मॉडर्निटीज़ : कोलोनियल ऐंड पोस्ट कोलोनियल एक्सपीरियेन्सज़ इन एशिया ऐंड द पैसिफ़िक,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

कल्पना गवाली (2005), *प्रेमचंद तथा शैलेश मटियानी की कहानियों में दलित विमर्श,* चिंतन प्रकाशन, कानपुर.

कुमारी सत्यवती (1932), *स्त्री दर्शन,* ज्ञानोदय प्रकाशन, छपरा.

कुसुम मेघवाल (1989), *हिंदी उपन्यासों में दलित वर्ग,* संघी प्रकाशन, जयपुर.

कृष्णानंद (1922), 'अनुचित छुआछूत', *स्त्री दर्पण*, सितंबर : 155-157.

केशवकुमार ठाकुर (1930), *विवाह और प्रेम*, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद.

केशवकुमार ठाकुर (1932), *गृहस्थ जीवन*, प्रयाग.

कैथलीन एम. अर्न्डल, (1991), 'द मुटिलिएशन ऑफ़ सूर्पनखा', पाउला रिचमैन (सं), *मेनी रामायना'ज़, द डाइवर्सिटी ऑफ़ ए नैरेटिव ट्रेडिशन इन साउथ एशिया,* कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, बर्कले.

'कॉन्ग्रेस और अछूत' (1930), चाँद, जनवरी : 638-641.

कांतिमोहन (2010), *प्रेमचंद और दलित विमर्श,* स्वराज प्रकाशन, दिल्ली.

गंगा प्रसाद उपाध्याय (1916), *जाति भेद*, आर्य प्रतिनिधि सभा, बुलंदशहर.

गंगा प्रसाद उपाध्याय (1928), *महिला व्यवहार चन्द्रिका*, प्रयाग.

गंगा प्रसाद उपाध्याय (1930), द *आर्य समाज ऐंड डिप्रेस्ड क्लासेज़,* आर्य समाज, इलाहाबाद.

गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' (1929), *स्वप्न दोष रक्षक*, बनारस.

गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' (1928), *संतान शास्त्र*, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद.

गीता लाल (1965), *प्रेमचंद का नारी चित्रण,* हिंदी साहित्य संसार, पटना.

गीतांजलि पांडे (1996), 'हाउ ईक्वल? वूमन इन प्रेमचंद'स राइटिंग्स', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, XXI (50), 13 दिसंबर : 2183-2187.

गेराल्डिन फ़ोर्ब्स (1994), 'मैनेजिंग मिडवाइफरी इन इंडिया', डगमार एँगेल्स और शुला मार्क्स (सं.), *कॉन्टेस्टिंग कॉलोनियल हेजेमनी : स्टेट ऐंड सोसाइटी इन अफ़्रीक़ा ऐंड इंडिया,* ब्रिटिश एकेडमी प्रेस, लंदन : 152-172.

गुप्त 'पागल' (1921), *गृहिणी भूषण*, पन्नालाल गुप्त, काशी.

गोपाल दामोदर तामस्कर (1934), 'सनातनधर्म का सनातनत्व', चाँद, फ़रवरी : 440-446.

चंद्रावती लखनपाल, (1941), *स्त्रियों की स्थिति,* गंगा ग्रंथकार, लखनऊ.

चंडीप्रसाद (1927), 'देवी शबरी', चाँद, सितंबर : 552-562.

चंद करण शारदा (1925), *दलितोद्धार,* अज़मेर.

चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु (1960), *आदि हिंदू आंदोलन के प्रवर्तक श्री 108 स्वामी अछूतानंदजी 'हरिहर',* हिंदू समाज

सुधार कार्यालय, लखनऊ.

चन्द्रिकानारायण शर्मा (1938), *मानवोत्पत्ति विज्ञान*, काशी.

चमन लाल, प्रद्योत, प्रवीण कुमार भट्ट और अरुण कुकसाल (सं.) (2012), *उत्तराखंड के शिल्पकार,* विनसर पब्लिशिंग, देहरादून.

चिंतामणि 'मणि' (1935), *मनु और स्त्रियाँ*, इंडिया बुक एजेंसी, इलाहाबाद.

चारु गुप्ता (1991), 'पोट्रेयल ऑफ़ वूमन इन प्रेमचंद'स स्टोरीज़ : अ क्रिटीक', *सोशल साइंटिस्ट*, 19 (5-6), मई-जून : 88-113.

चारु गुप्ता (2001), *सेक्सुअलिटी, अब्सेनिटी, कम्यूनिटी : वूमन, मुस्लिम्'स ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कॉलोनियल इंडिया,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

चारु गुप्ता (2012), *स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक : औपनिवेशिक उत्तर भारत में यौनिकता और साम्प्रदायिकता,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली.

चारु गुप्ता (2016), द *जेंडर ऑफ़ कॉस्ट : रेप्रेज़ेंटिंग दलित्स इन प्रिंट,* पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

चारु गुप्ता (2018), 'रहबर से अपनी राह जुदा : संतराम, जाति और लिंग', *प्रतिमान : समय, समाज, संस्कृति*, 6 (12), जुलाई-दिसंबर : 295-324.

चारु गुप्ता (2019), 'कजरारी 'कुलटा' : हिंदी प्रिंट, सवर्ण लेखन और दलित स्त्री का (कु)चित्रण', *तद्भव* , 39 (7), जून : 39-59.

चार्लोट जी. बोर्स्ट (1995), *कैचिंग बेबीज़: द प्रोफ़ेशनलाइज़ेशन ऑफ़ चाइल्डबर्थ, 1870-1920*, केम्ब्रिज, युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

जगपति चतुर्वेदी (1946), *हमारी पारिवारिक व्यवस्था*, मात्री भाषा मंदिर, प्रयाग.

ज्योतिर्मयी ठाकुर (1932), *घरेलू विज्ञान,* प्रयाग.

जयदयाल गोयनका (1937), *नारीधर्म*, गोरखपुर : गीता प्रेस, गोरखपुर.

बलवन्त साधु जाधव (1992), *प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना,* अलका प्रकाशन, कानपुर.

जी. डब्ल्यू. ब्रिग्स (1920), द *चमार्स*, कलकत्ता.

जे.टी.एफ. जॉर्डन (1981), *स्वामी श्रद्धानंद : हिज़ लाइफ़ ऐंड कॉज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

जेनेट चावला (सं.) (2006), *बर्थ ऐंड बर्थगिवर्स: द पावर बिहाइंड द शेम*, हर-आनंद प्रकाशन, दिल्ली.जनार्दन जोशी (1918), *गृह प्रबंध शास्त्र*, प्रयाग.

जूडिथ डब्ल्यू लेविट (1986), *ब्राउट टू बेड: चाइल्ड-बियरिंग इन अमेरिका, 1750-1950,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

जूडिथ वॉल्श (2004), *डोमेस्टिसिटी इन कोलोनियल इंडिया: व्हाट वीमेन लर्न्ड व्हेन में गेव देम एडवाइस,* रौमैन ऐंड लिटिलफ़ील्ड, न्यू यॉर्क.

जे. सी. नेस्फ़ील्ड (1885), *ब्रीफ व्यू ऑफ़ द कास्ट सिस्टम ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंस ऐंड अवध,* गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद.

टोनी मॉरिसन (1992), *प्लेइंग इन द डार्क: व्हाइटनेस ऐंड द लिटरेरी इमेजिनेशन*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

डब्ल्यू. क्रुक (1974[1896]), द *ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न इंडिया*, कॉस्मो, दिल्ली.

डब्ल्यू. डी. जॉर्डन (1968), *व्हाइट ओवर ब्लैक: अमेरिकन एटिट्यूड टुवर्ड्स द नीग्रो (1550-1812)*, युनिवर्सिटी ऑफ़ नॉर्थ कैरोलिना प्रेस, चैपल हिल.

तोताराम वकील (1925), *स्त्री धर्म बोधिनी*, भारत बुक डिपो, अलीगढ.

तोरल जतिन गजरावाला (2013), *अनटचेबल फिक्शन्स : लिटरेरी रियलिज़म ऐंड द क्राइसिस ऑफ़ कास्ट,* फ़ोर्डहम युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

द इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर (1935), 16 नवंबर : 169.

'दलितोद्धार सम्मेलन' (1930), चाँद, मार्च : 874-875.

दयाशंकर दुबे (1925), 'भारत में हिंदुओं की दशा', *माधुरी*, अगस्त : 146-153.

दामोदर शास्त्री (1928), 'कुछ विचारणीय बातें', चाँद, मार्च : 572-578.

धर्मवीर (2005), *प्रेमचंद : सामंत का मुंशी,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

नंदलाल जायसवार 'वियोगी' (1943), *अछूतों का इंसाफ़,* जायसवार सेवा सदन, इलाहाबाद.

नवल वियोगी और म. अनवर अंसारी (2010), *हिस्टरी ऑफ़ द लेटर हरप्पन्स ऐंड शिल्पकार मूव्मेंट, भाग –II*, कल्पाज़ पब्लिकेशन, दिल्ली.

नारायण दत्त शर्मा 'कश्यप' (1927/1929/1931), भारतीय विधवाओं की करुणापूर्ण कथाएँ अर्थात हिंदू विधवाओं पर अत्याचार, भाग 1-2-3, विधवा सहायक ग्रंथमाला कार्यालय, आगरा. '

नीच जातियाँ' (1919), *स्त्री दर्पण*, नवंबर : 273-274.

परमेशीदास जैन (1937), *विजातीय विवाह मीमांसा,* इलाहाबाद.

पार्थ चटर्जी (1993), *नेशन ऐंड इट्स फ़्रैगमेन्ट्स: कॉलोनिअल ऐंड पोस्ट कॉलोनिअल हिस्टोरीज़*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

पुलिस ऐब्स्ट्रैक्ट्स ऑफ़ इंटेलिजेंस (पी. ए. आई), 1922-40), यू.पी.

पेट्रीशिया हिल कॉलिन्स (2005), *अफ़्रीकन अमेरिकन्स, जेंडर ऐंड द न्यू रेसिज़म*, रटलेज, न्यू यॉर्क.

प्रेम चौधरी (2007), *कॉन्टेंसियस मैरिज, एलोपिंग कपल्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

प्रदीप कु. शर्मा (2006), *दलित पॉलिटिक्स ऐंड लिटरेचर,* शिप्रा पब्लिकेशंस, दिल्ली.

प्रसादीलाल झा (1923), 'अच्छी दाईयों की आवश्यकता', *स्त्री दर्पण*, 29(3), सितंबर : 476-478.

प्रसाद सिंह संत (1933), *हरिजन गान,* हरिजन सेवक संघ, आज़मगढ़.

प्रताप सिंह (सं.) (1936), *अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामंडल का रजत जयंती ग्रंथ,* महाशक्ति प्रेस, बनारस.

प्रेमचंद (1984), *मानसरोवर* : भाग 1-8, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद.

पौलिन कोलेन्द, (1987), *रीजनल डिफ़रेंसेज़ इन फैमिली स्ट्रक्चर इन इंडिया*, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर.

फ़ाइल 10/1922, *ए.आई.सी.सी.पेपर्स*, एन.एम.एम.एल (नेहरू मेमोरियल म्यूज़ीयम ऐंड लाइब्रेरी).

फ़ाइल 1248/1933, जुडिशियल, होम डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

फ़ाइल 124-ईई/1934, प्रोसीडिंग्स ऑफ़ यू. पी लेजिस्लेटिव काउन्सिल, 20 फ़रवरी, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया, लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट.

फ़ाइल 22, *बाबा रामचंद्र पेपर्स*, एन.एम.एम.एल.

फ़ाइल 25-26/1919, अक्टूबर, लेजिस्लेटिव डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

फ़ाइल 37, वॉल. ई /1934, *बी. एस. मूंजे पेपर्स*, एन.एम.एम.एल.

फ़ाइल 68-69/1900, जून, ए . मेडिकल, होम डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया.

फ़ाइल म-3, *हिंदू महासभा पेपर्स, जनरल करेस्पॉन्डेन्स*, (एन.एम.एम.एल).

फ़िफ़्टी-सेवंथ रिपोर्ट ऑफ़ द डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक हेल्थ ऑफ़ यू. पी (1925), इलाहाबाद.

फिलिप लुटगेंडॉर्फ (2001), 'डाइनिंग आउट एट लेक पम्पा: द शबरी एपिसोड इन मल्टीपल रामायण', पाउला रिचमैन (सं.) *क्वेश्चनिंग रामायण : ए साउथ एशियन ट्रेडिशन,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले : 119-136.

फिलिपा लेविन (2003), *प्रॉस्टिट्यूशन, रेस ऐंड पॉलिटिक्स: पुलिसिंग वेनेरियल डिजीज़ इन द ब्रिटिश एम्पायर,* रटलेज, न्यू यॉर्क.

बलदेव सिंह आर्य (1935), 'सवाल डोला पालकी', *इंडियन सोशल रिफ़ॉर्मर*, 23 नवंबर.

बाबू सन्नूलाल गिरदावर गुप्त (1922), *स्त्री सुबोधिनी*, लखनऊ.

बारबरा एरेनरेइच और डीर्ड्रे इंग्लिश (1973), *विच्स, मिडवाइव्स ऐंड नर्सेज़ : ए हिस्ट्री ऑफ़ वीमेन हीलर*, फ़ेमिनिस्ट प्रेस, न्यू यॉर्क.

बालकृष्ण वाजपेई (1934), *स्त्री सर्वस्व*, रत्नाश्रम, आगरा.

बासुदेव शर्मा (1916), *अग्रवाल जाति प्रबंध*, आगरा.

बेल हुक्स (1992), *ब्लैक लुक्स: रेस ऐंड रिप्रेजेंटेशन*, साउथ ऐंड प्रेस, बोस्टन.

भवानीदयाल संन्यासी (1928), 'स्त्री और सेवा', *चाँद*, अक्टूबर : 650-655.

मंगलदेव शर्मा (1927), 'भ्रान्ति की लहर', *माधुरी*, अक्टूबर : 414-419.

मनव्रता देवी (1948), *नारी धर्म शिक्षा,* काशी पुस्तक भंडार, बनारस.

महेंदुलाल गर्ग (1930), *कलावती शिक्षा*, प्रयाग.

मालविका कस्तूरी (2002), *इम्बट्ल्ड आयडेंटिटीज़ : राजपूत लीनियेज़ेज़ ऐंड द कॉलोनियल स्टेट इन नाइंटींथ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

मार्गरेट एल हंटर (2005), *रेस, जेंडर, ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ स्किन टोन,* रटलेज, न्यूयॉर्क.

मिशेल फूको (1978), *द हिस्ट्री ऑफ़ सेक्सुअलटी, भाग-1*, रॉबर्ट हर्ले द्वारा अनुवादित, विंटेज, न्यू यॉर्क.

मुकुल बिहारी वर्मा (1971), *हिस्टरी ऑफ़ हरिजन सेवक, 1932-1968*, हरिजन सेवक संघ, दिल्ली.

मेरी हैनकॉक (2001), 'होम साइंस ऐंड द नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ डोमेस्टिसिटी इन कॉलोनियल इंडिया', *मॉडर्न एशियाई स्टडीज* 35(4) : 871-903.

यशोदा देवी (1910), *नारी नीति शिक्षा*, इलाहाबाद.

रुक्मणी देवी (1919), *मेम और साहिब*, दुर्गा प्रसाद, बनारस.

रतनकुमार सम्भारिया (2011), *मुंशी प्रेमचंद और दलित समाज,* अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली.

राधिका सिंघा (1998), *ए डेस्पटिज़म ऑफ़ लॉ: क्राइम ऐंड जस्टिस इन अर्ली कॉलोनियल इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

'राजा' महेंद्र (1952), 'भारत की मल्लाह जाति', *विशाल भारत*, अगस्त : 106.

रॉबी डेविस-फ्लोयड और कैरोलिन एफ. सार्जेंट (सं.) (1997), *चाइल्डबर्थ ऐंड ऑथरेटिव नॉलेज : क्रॉस-कल्चरल पर्सपेक्टिव्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

रामगोपाल शुक्ला 'प्रकाश', (1934), *अछूतोद्धार अर्थात कट्टर पंथियों की चिल्लपों*, कानपुर.

रामचरित उपाध्याय (1927), 'परिरम्भ', *चाँद*, मई : 74.

रामतेज पाण्डे (1931), *नारी धर्म शास्त्र*, भार्गव पुस्तकालय, काशी.

रामदास गौड़ (1927), *कन्याओं की पोथी या कन्या-सुबोधिनी*, गाँधी हिंदी पुस्तक भण्डार, प्रयाग.

रामनाथ लाल 'सुमन' (1933), *भाई के पत्र : विवाह समस्या और नारी जीवन*, सस्ता साहित्य मंडल, अजमेर.

रामनारायण स. रावत, (2012), *रीकन्सिडरिंग अनटचेबिलिटी : चमार्स ऐंड दलित हिस्टरी इन नॉर्थ इंडिया,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

रामेश्वरी प्रसाद 'राम' (1926), *अछूतोद्धार नाटक,* नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस.

रामरख सिंह सहगल (1922), *समाज दर्शन अर्थात सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन*, चाँद कार्यालय, इलाहाबाद.

राय बहादुर लाला बैजनाथ (1905), *हिंदूइज़्म : एन्सीएंट ऐंड मॉडर्न*, वैश्या हितकारी ऑफ़िस, मेरठ.

'रिव्यू : रिपोर्ट ऑफ़ द रॉयल कमीशन ऑन लेबर इन इंडिया, 1929-30' (1931), *द जर्नल ऑफ़ द एसोसियेशन ऑफ़ मेडिकल वूमन इन इंडिया*, XIX(4), नवंबर : 51-55.

लज्जाराम (1928), 'समाज सुधार', *सुधा*, जनवरी : 704.

लक्ष्मीधर वाजपेई (1941), *धर्मशिक्षा*, तरुण भारत ग्रंथावली, प्रयाग.

लॉरा आर. ब्रुएक (2014), *राइटिंग रेज़िस्टेन्स : द रेटॉरिकल इमैज़िनेशन ऑफ़ हिंदी दलित लिटरेचर*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू यॉर्क.

लुज़िया सेवरी (2014), 'वर्नाक्युलर यूजीनिक्स? संतति-शास्त्र इन पॉपुलर हिंदी एडवाइज़री लिटरेचर (1900-1940)', *साउथ एशिया : जर्नल ऑफ़ साउथ एशियन स्टडीज़* 37(3) : 381-397.

लुईस औवेर्कर्क (1945), *द अनटचेबल्स ऑफ़ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

लाला कन्नोमल (1927), 'हिंदू धर्म में अछूतों का स्थान'. *चाँद*, मई : 55-56.

लाला बांकेलाल (1909), *कन्या मनोरंजन*, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद.

व. ब. रावत (2006), 'लिटरेचर : दलित्स इन प्रेमचंद'स स्टोरीज़, *मनूस्की*, 13 मई.

विजिया भारती (1995), 'हिंदू एपिक्स : पोरट्रायल ऑफ़ दलित वीमेन', पी. जी. जोगदंड (सं.), *दलित वीमेन इन इंडिया : इश्यूज ऐंड पर्सपेक्टिव्स,* ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, पुणे : 93-104.

वेंडी पर्किन्स (1996), *मिडवाइफ़री ऐंड मेडिसिन इन अर्ली मॉडर्न फ्रांस*, लुईस बुर्जुआ, एक्सेटर.

वेंडी ब्राउन (2006), *रेगुलेटिंग एवर्सन : टॉलरेंस इन द एज ऑफ़ आयडेंटिटी ऐंड एम्पायर,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

संपादकीय (1926), 'भारत के कलंक', *चाँद,* नवंबर : 121.

संपादकीय (1927), 'पाप की ग्रंथियाँ', *चाँद*, मई : 2-6.

संपादकीय (1927), 'शिक्षा और कुसंस्कार'. *चाँद*, मई : 11-12.

संपादकीय (1934), *चाँद*, अगस्त.

संतराम (1927), 'समाज सुधार: जाति-पाँति के दुष्परिणाम', *सुधा*, सितंबर : 219-222.

संतराम (1929), 'अंतर्जातीय विवाह'. *सुधा*, जुलाई : 596-608.

संतराम (1959), *अंतर्जातीय विवाह ही क्यों?* जात-पाँत तोड़क मंडल, होशियारपुर.

सदानंद शाही (2000) (सं.), *दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद,* प्रेमचंद साहित्य संस्थान, गोरखपुर.

सतनाम सिंह (2011), *चमार जाति का गौरवशाली इतिहास,* सम्यक प्रकाशन, दिल्ली.

सतीश कुमार शर्मा (1983), 'शुद्धि : ए केस स्टडी ऑफ़ रोल ऑफ़ ए रिलिजियस मूव्मेंट इन द स्टेटस इंप्रूव्मेंट ऑफ़ अनटचबल्स', *इंडियन जर्नल ऑफ़ सोशल रिसर्च,* 24 (1), अप्रैल : 70-77.

सनल मोहन (2011), 'नररातिविज़िंग द हिस्टरी ऑफ़ स्लेव सफरिंग', सूज़ी थारु और क. सत्यनारायया (सं.), *नो आल्फबेट इन साइट: न्यू दलित राइटिंग्स फ्रॉम साउथ इंडिया*, पेंग्विन, दिल्ली : 534-555.

'समाचार संग्रह' (1927), चाँद, मई : 188-192.

'समाज सुधार' (1930), *सुधा*, जनवरी : 699-707.

सर सेसिल वॉल्श (1929), *इंडियन विलेज क्राइम्स विद एन इंट्रोडक्शन ऑन पुलिस इन्वेस्टिगेशन ऐंड कन्फेशंस*, अर्नेस्ट बेन लिमिटेड, लंदन.

समिता सेन (1999), *वीमेन ऐंड लेबर इन लेट कॉलोनियल इंडिया इन द बंगाल जूट इंडस्ट्री*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

'स्त्री समाज' (1929), *सुधा*, जुलाई : 659.

'स्मृति कुञ्ज' (1927), चाँद, जनवरी : 339-342.

स्वप्ना बनर्जी (2004), *मेन, वीमेन ऐंड डोमेस्टिक्स : आर्टिकुलेटिंग मिडिल-क्लास आयडेंटिटी इन कोलोनियल बंगाल*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

सारा बेथ, (2007), 'हिंदी दलित ऑटोबायोग्रफ़ी : ऐन एक्सप्लोरेशन ऑफ़ आयडेंटिटी', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़* 41 (3).

सिक्स्टी-थर्ड एनुअल रिपोर्ट ऑफ़ द डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक हेल्थ ऑफ़ यू.पी. (1931), इलाहाबाद.

सिक्स्टी-सिक्स्थ रिपोर्ट ऑफ़ द डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक हेल्थ ऑफ़ यू.पी. (1934) इलाहाबाद.

सीन लैंग (2005), 'ड्रॉप द डेमन दाई : मैटरनल मॉर्टेलिटी ऐंड द स्टेट इन कॉलोनियल मद्रास, 1840-1875', *सोशल हिस्ट्री ऑफ़ मेडिसिन*, 18(3).

सी. ए. बेली (1996), *एम्पायर ऐंड इंफ़ॉर्मेशन : इंटेलिजेंस गैदरिंग ऐंड सोशल कम्युनिकेशन इन इंडिया, 1780-1870,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

सेंटी रोज़ारियो और सैमुअल जेफ़्री (सं.) (2002), *डॉटर्स ऑफ़ हरिटी : चाइल्डबर्थ ऐंड फीमेल हीलर इन साउथ ऐंड साउथईस्ट एशिया*, रटलेज, लंदन.

सुप्रिया गुहा (1998), 'फ्रॉम डाइस टू डॉक्टर्स : द मेडिकलाइजेशन ऑफ़ चाइल्डबर्थ इन कॉलोनियल इंडिया', लक्ष्मी लिंगम (सं.) *अंडरस्टैंडिंग वूमेन हेल्थ इश्यूज : ए रीडर*, काली फ़ॉर विमेन, दिल्ली.

सुखनंदन प्रसाद दुबे (1933), *छुआ-छूत का भूत अर्थात हिंदुओं की दशा,* अवस्थी पुस्तकालय, लखनऊ.

सुमित सरकार (1997), *राइटिंग सोशल हिस्टरी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

सुसन बेली (1999), *कास्ट, सोसायटी ऐंड पॉलिटिक्स इन इंडिया फ्रॉम दी एटीन्थ सेंचुरी टू दी मॉडर्न एज*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (1929), 'वर्णाश्रम-धर्म की वर्तमान स्थिति', *माधुरी*, दिसम्बर : 836-843.

सूसी थारू और के. सत्यनारायण (सं.) (2011), *नो अल्फाबेट इन साइट: न्यू दलित राइटिंग्स फ्रॉम साउथ इंडिया,* पेंगुइन, दिल्ली.

सेठ विद्यावती (1922), 'प्राचीन और नवीन भारत की महिलाएँ', *माधुरी*, 1 (4), अक्टूबर : 339-342.

सेंसस ऑफ़ इंडिया, 1911, *यू. पी, भाग. XV, खंड I (*1912), इलाहाबाद.

सेंसस ऑफ़ इंडिया, 1921, यू. पी, भाग. XVI, खंड I (1923), इलाहाबाद.

सेसिलिया वैन होलेन (2003), *बर्थ ऑन द थ्रेशोल्ड: चाइल्डबर्थ ऐंड मॉडर्निटी इन साउथ इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

श्योराज सिंह बेचैन (2000), 'दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद का चमार चिंतन', शाही (सं.), *दलित साहित्य*.

शर्मिला रेगे (2013), *अगेन्स्ट द मैडनेस ऑफ़ मनु : बी.आर. आंबेडकर'स राइटिंग्स ऑन ब्राहमानिकल पेट्रियार्की,* नावायणा, दिल्ली.

शशि भूषण उपाध्याय, (2002), 'रेप्रेज़ेंटिंग द अंडरडॉग्स : दलित्स इन द लिटरेचर ऑफ़ प्रेमचंद', *स्टडीज़ इन हिस्टरी* 18 (1).

शोभाराम 'धेनु-सेवक' (1927), 'अछूत-निवेदन', *चाँद*, मई : 13-15.

शिरोमणि शर्मा (1927), 'समाज सुधार', *सुधा*, अगस्त : 100-102.

शिवनारायण मिश्र (1922), *बहिष्कृत भारत,* प्रताप पुस्तकालय, कानपुर.

शिव शर्मा 'महोपदेशक' (1927), *स्त्री शिक्षा*, किंग प्रेस, बरेली.

शिवकुमार शास्त्री (1916), *वर्ण व्यवस्था पर विचार,* विश्व प्रचारक महामंडल, अलीगढ़.

श्रद्धानंद संन्यासी (1919), *जाति के दीनों को मत त्यागो अर्थात 7 करोड़ दीनों की रक्षा,* धर्म प्रचारक प्रेस, दिल्ली.

हजारीलाल जैन (1931), 'सनातन धर्म और अछूत', *चाँद*, मई : 62-66.

हनुमान प्रसाद पोद्दार (1929), *समाज सुधार*, गीता प्रेस, गोरखपुर.

हीरालाल (1927), 'छुआ-छूत', *चाँद*, मई : 72-74.

'हिंदू समाज की उन्नति के साधन' (1926), *चाँद*, अगस्त : 386-387.

'हिंदू महासभा रेज़ल्यूशंस ऑन रिमूवल ऑफ़ अनटचैबिलिटी'. बी. एस. मूंजे पेपर्स, फ़ाइल 18/1931, एन.एम.एम.एल, दिल्ली.

हुक्मा देवी (1932), *महिला मनोरंजक प्रश्नावली*, लखनऊ.

ज्ञानेंद्र पांडे (2013), *ए हिस्ट्री ऑफ़ प्रेजुडिस : रेस, कास्ट ऐंड डिफ़रेंस इन इंडिया ऐंड द यूनाइटेड स्टेट्स,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.